अरुन्धती

महाकाव्य

रामभद्राचार्य

सूक्ति वाक्य

१. प्रत्येक कार्य की सफल सिद्धि संकल्पों पर निर्भर होती,
सामान्य सूक्ति से कभी नहीं प्रकटा करती मंजुल मोती।
(पृ. ९३, सर्ग ६)

२. वस्तुतः क्रोध मानव मन का होता सपल सबसे उत्कट,
इसके कारण ही मड़राते जीवन पर संकट मेघ विकट।
प्रतिशोध अनल में जल जाते क्षण में ही मानव मूल्य सभी,
इसकी झंझा में उड़ जाते सद्गुण सुरपादप तुल्य सभी।।
(पृ. ९३, सर्ग ६)

३. सच पूछो तो दुःख का कारण अपनी ही स्वयं अपेक्षा है,
इससे सौगुनी भली होती जगती में स्वयं उपेक्षा है।।
(पृ.९६, सर्ग ६)

४. यह एक विलक्षण देवी है जिसको हम आशा कहते है,
हो विमुख शान्ति पाते जिससे सम्मुख हो दुःख से दहते हैं।
(पृ.९६, सर्ग ६)

५. शुचि मानवीय शाश्वत मूल्यों की संयम प्राण प्रतिष्ठा है,
यह लोकोत्तर बहुमूल्य रत्न यत्नों की मंगल निष्ठा है,
संयम मनुष्य को देवों के सिंहासन पर बिठलाता है।
इस नर को भी नारायण से संयम अविलम्ब मिलाता है।।
(पृ.९८, सर्ग ६)

अरुन्धती

महाकाव्य

अरुन्धती महाकाव्यं कुर्वताशास्त्र चक्षुषा,
विद्वान्सो जीविताश्चैव मूर्खास्तुनिहतामया।

प्रणेता

महाकवि सर्वाम्नाय तुलसीपीठाधीश्वर
जगद्गुरू रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्य जी महाराज
आमोद वन, तुलसी पीठ, चित्रकूट (सतना, मध्य प्रदेश),

अनुप्रवेश

जयत्यरुन्धती भर्तृ चरणाब्जरजोलसन् ।
मूर्द्धा मूर्धाभिषिक्तः श्री रामो राजा स राघवः ।।

कविता जीवन की संवित सम्वेदना एवं अनुभूतियों का समन्वय है। यह एक निसर्ग सिद्ध विचाराभिव्यक्ति की ऐसी अद्‌भुत कला है कि जो आविद्यत पामर प्राणिमात्र को परमानन्द सहोदर परमरस की अनुभूति से धन्य बना देती है। कविता प्रयत्न करके बनायी नहीं जाती प्रत्युत वह कवि के संवेदनशील हिमाद्रिसंकाश निर्मल एवं शीतल हृदय के निश्चिन्दभूत भाव प्रवाह का आलम्वन लेकर कल्पना समीरण के सहयोग से गोमुखी गंगा की भाँति निःश्रेयस महासागर के संगम पर्यन्त अविच्छिन्न गति से पति प्रणयिनी त्वरावति युवती की भाँति द्रुत गतिशील रहती है। इसीलिए सकल कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसे "सुरसरि सम सबकर हित होई" कहकर परिभाषित किया है।

कविता एक निर्मल निष्कलंक सात्विक हृदय के निस्यन्द का परिणाम है जो विभानुभाव संचारी भाव भग्नावरण चिति से अभिन्न रसरूप आत्मा सनाथित होकर मनन मात्र से जीव को परमात्मानुभूति कराकर कृतकार्य हो जाती है।

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान :
निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

इस सुमित्रा नन्दन पन्त की पंक्ति में व्याख्यायित कविता के उद्‌गम की अवस्था सार्वभौम नहीं है। यह तो भवभूति के **'एकोरसः करुण एवं'** की अवधारणा का अनुवाद मात्र है क्योंकि वाल्मीकि के अतिरिक्त अन्य कवि इस मनोदशा के लक्ष्य नहीं माने जाते। वस्तुतः कविता के उद्‌गम में श्री गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निर्दिष्ट मनोदशा पूर्णतः वैचारिक, समीचीन और व्यापक प्रतीत होती है। गोस्वामी जी के मत में जब समुद्र जैसे विशाल एवं अगाध विचार संपत्ति से परिपूर्ण अन्तःकरण की वृतियों के साथ सीपी के समान उर्ध्वमुखी बुद्धि तथा वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती रूप स्वाति एवं अविच्छिन्न विचाररूप वृष्टि का समन्वय होता है। उस अवस्था में स्वयं ही कविता रूप मौक्तिक मणि अनायास ही प्रादुर्भूत हो उठते हैं, यथा :

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति शारदा कहहिं सुजाना।।
जो बरसै वरवारि विचारू। होंहि कवित मुक्तामणि चारू।। और ६वी

(मानस १, ११, ८, ९, बालकांड के ग्यारहवें दोहे कि ८ वीं चौपाई)

अरुन्धती महाकाव्य के संबंध में भी मेरे साथ कुछ ऐसा ही हुआ क्योंकि न तो मैं वियोगी था और न ही मेरे मन में किसी प्रकार की व्यक्तिगत आह थी। मैं अपने शैशवकाल में ही सहज भाव से कविताएँ किया करता था। अपने पूज्य पितामह की कृपा से मुझे जीवन के अष्टम वर्ष मे ही श्री रामचरित मानस की कृपा प्राप्त हो गयी थी अर्थात् मैंने सम्पूर्ण रामचरित मानस कंठस्थ कर लिया था। अतः गोस्वामीजी और उनकी कविताओं से व्यासंग मेरा स्वभाव बन

चुका था। संयोगवशात पाणिनी व्याकरण मेरे अध्ययन का विषय बना और उसमें यथासंभव मुझे सफलता भी मिली परन्तु व्याकरण की तथाकथित निरसता मेरे मन की सरसता में बाधक न बनी और संस्कृत व्याकरण के अध्ययन काल में भी मैं कविता रचना और उसके रसास्वादन के व्यासंग से जुड़ा रहा। अध्ययन के पश्चात् जब मैं सामाजिक जीवन के परिवेश में उतरा तब गोस्वामी जी एवं अन्य मूर्धन्य मनीषी साहित्य स्रष्टाओं के साहित्यिक अनुशीलन का सुअवसर मिलने लगा तथा अब संस्कृत और हिन्दी के विविध आयामों में मैं उन्मुक्त रूप से कविता-रचना में प्रवृत हुआ। कभी भी मैंने प्रयास करके कविताएँ नहीं बनायी और जान बूझकर अलंकारों को ठूसने का प्रयास नहीं किया। भगवत् कृपा से निसर्गतः जो संभव हो सका उसे ही मैंने वाणी का प्रसाद माना। संस्कृत में अनेक गीत तथा सात शतक एवं सहस्राधिक मुक्तक श्लोकों की रचना की और हिन्दी में भी भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधि तथा खड़ी बोली में भी सहस्रसः भक्ति गीतों की रचना की और अपने कथाओं के क्रम में आशु कविता के रूप में बहुत से श्लोक, कवित्त, सवैया तथा गीतों के माध्यम से अपने भाव कुसुमस्तवकों द्वारा भगवान की चरण समर्चा का भी स्वर्णिम सौभाग्य प्राप्त किया। इसी क्रम में माँ शवरी, काका विदुर, हनुमत कौतुक ये तीन भक्ति खंड काव्य भी लिखे परन्तु खड़ी भाषा में महाकाव्य लिखने की न तो मेरी क्षमता थी और न ही कोई प्रवृति। अरुन्धती महाकाव्य की संरचना का संकल्प एक आकस्मिक घटना है जिसके श्रोत के सम्बन्ध में मैं कुछ भी नहीं कह सकता क्योंकि संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण और अपनी शारीरिक लेखनवाचन की अक्षमता के रहते मुझे किसी खड़ी भाषा में रचित महाकाव्य के अनुशीलन का विशेष अवसर नहीं मिला; इसलिए मैं किसी खड़ी भाषा के कवि पुंगव से प्रभावित भी नहीं हो पाया। यद्यपि यह परिस्थिति इस काव्य की रचना में मेरे लिए पाथेय बनी क्योंकि सर्वथा नवीन कार्य होने के कारण मैंने निष्पक्षता पूर्वक अपने मनोभावों का उन्मुक्त प्रस्तुतिकरण किया। बिना पूर्वाग्रह के इस प्रबन्ध में जो उपादान कविता के रूप में प्रस्तुत हुए हैं उन्हें भगवत प्रसाद ही मानना चाहिए। मैं पंडित राज जगन्नाथ की भाँति स्वभावतः विनम्रता से यह निवेदन कर सकता हूँ कि अरुन्धती महाकाव्य के रचनाकाल में मेरे मन में जो भी विचार आये उन्हें मैंने उसी प्रकार से अपनी स्वाभाविक भाषा में प्रस्तुत किया।

"निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपम
काव्यं मयात्र निहितम् न परस्य किंचित्"। (पंडित राज जगन्नाथ)

चूँकि में जन्मना वशिष्ठ गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण हूँ इसलिए अरुन्धती पर श्रद्धा स्वाभाविक ही है, यद्यपि अरुन्धती एक वैदिक ऋषि की पत्नी है, पौराणिक दृष्टि से भी उनका चरित्र अत्यन्त निष्कलंक, प्रेरणास्पद तथा अनुकरणीय है। उनके चरित्र में भारतीय संस्कृति, समाज, धर्म, राष्ट्र तथा वैदिक दर्शन के बहुमूल्य तत्व उपलब्ध हैं जिन्हें आधार मानकर साहित्य की 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की समर्थ व्याख्या संभव है। एतदर्थ मैंने अरुन्धती के चरित्र को ही अपने महाकाव्य का केन्द्र विन्दु माना है। वैदिक धर्म में अग्निहोत्र परम्परा का पूर्ण परिपोषण अरुन्धती और वशिष्ठ से ही हुआ है। सप्तर्षियों के बीच वशिष्ठ के साथ अरुन्धती ही समर्चिणीय हैं और किसी ऋषि की पत्नी ऋषियों के बीच पूजा की अधिकारिणी नहीं बन सकी, इससे भी अरुन्धती की वैदिक धर्म के साथ निकटतम भूमिका का सहज ही मूल्यांकन किया जा सकता है।

अरुन्धती महाकाव्य की कथावस्तु भी एक विभिन्न परिस्थितियों का समन्वय है जिसमें मैंने भागवत, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अपनी कल्पना का सहयोग लेकर एक अपूर्व कथा कलेवर प्रस्तुत किया। अपनी वैचारिक प्रतिपाद्य निर्धारणा के आलोक में वैदिक वाङ्मय में विखरे अरुन्धती सम्बन्धी समग्र घटनाक्रमों को यथासंभव संकलित करके मैंने अरुन्धती महाकाव्य की नायिका के वर्णन व्याज से वैदिक संस्कृत के समग्र आयामीय वर्णन का प्रयास किया है। अरुन्धती के जन्म की कथा शिव पुराण तथा भागवत में विभिन्न रूप से दृष्टिगोचार होती है। परन्तु मैंने भागवत में वर्णित अरुन्धती जन्म कथा को ही अपने महाकाव्य का वर्ण्य बनाया है और ब्रह्मा के आगमन और उनके उद्‌बोधन का प्रकरण रामचरित मानस के सप्तम सोपान से लिया तथा विश्वामित्र वशिष्ट के विरोध-प्रकरण को वाल्मीकिय रामायण के आधार पर प्रस्तुत किया है। शक्ति का आविर्भाव एवं पराशर की उत्पत्ति के सूत्र महाभारत और ब्राह्मण ग्रन्थों से प्राप्त किये गये हैं तथा महाकाव्य का चरमभागीय कथानक वाल्मीकिय रामायण, रामचरित मानस एवं विनयपत्रिका के कथासूत्रों पर आधारित है। इन कथाओं की यथाक्रम संयोजना भगवत् प्रदत्त मेरी मनीषा और काल्पनिक अल्पना का परिणाम है।

अरुन्धती महाकाव्य वैदिक दर्शन एवम् भारतीय संस्कृति का एक सकारात्मक प्रतिपादन है। इसमें पन्द्रह सर्गों की संयोजना है। सृष्टि, प्रणय प्रीति, परितोष, प्रतीक्षा अनुनय, प्रतिशोध, क्षमा, शक्ति, प्रबोध, भक्ति, उपलब्धि, उत्कंठा और प्रमोद इन पन्द्रह विम्बों पर मैंने यथासंभव अपनी अवधारणाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन विम्बों का मानव की मनोवैज्ञानिक विकास-परम्परा से भी बड़ा घनिष्ठतम संबंध है। वैदिक धर्म प्रारम्भिक क्रम में सर्जना का समर्थक रहा है और सृष्टि के पश्चात् परस्पर प्रणय मानव का स्वभाव है। प्रणय के पश्चात् प्रीति और प्रीति के परिणाम स्वरूप परितोष से मानव जीवन रसमय होता है और वह फिर किसी अनुपम सुख की प्रतीक्षा में तल्लीन होता है। परिस्थितियों के उतार चढ़ाव के क्रम में कभी-कभी क्रोध के समनार्थ अनुनय का सहारा लिया जाता है और मानव कभी न कभी किसी न किसी प्रतिशोध का शिकार बनता ही है। उस समय क्षमाशील रहकर वह अलौकिक सत्य की शक्ति प्राप्त करता है और उसकी सर्वव्यापकता का बोध होने पर सुधी व्यक्ति को संसार के भोगों से स्वयं ही उपराम अर्थात् घृणाभाव हो जाता है। विषयों से विरक्त मन में संसार की असत्यता और परमात्मा की सत्यता का प्रबोध होता है। अनन्तर भक्ति से उसे परमात्मा की अनुभूति की उपलब्धि होती है और फिर वह ईश्वर के प्रत्यक्षीकरण के लिए उत्कंठित होकर साधन में तल्लीन होता है और उत्कंठा की परिपक्वावस्था में साधक को परमात्म दर्शन से इष्ट लाभ जनित परमानन्द प्रमोद की प्राप्ति होती है। यही है भारत के आस्तिक दर्शनों का शाश्वत्त सिद्धान्त। इसी के आधार पर अरुन्धती महाकाव्य की विषयवस्तु का निर्धारण किया जाता है। यथा अवसर राष्ट्रवाद, समाजवाद, और सनानतधर्म की शास्त्रानुमोदित व्याख्या भी की गयी है।

काव्य के प्रथम सर्ग में भगवान के बालरूप का वर्णन और उन्हीं से सृष्टि के प्रादुर्भाव का दिग्दर्शन कराया गया है। अरुन्धती ब्रह्मापुत्र कर्दम की अष्टम कन्या हैं जिनका विवाह ब्रह्माजी के अष्टम पुत्र वशिष्ट से सम्पन्न होता है। वह पति परिणयिनी वशिष्ठ के व्यवहार से अतिप्रसन्न रहकर उनकी सात्विक प्रीति सुधा से प्राप्त परितोष से धन्यता का अनुभव कर रही है कि तब तक ब्रह्मदेव आकर ऋषि दम्पती को भगवत दर्शन का आश्वासन देकर स्वयं अन्तर्धान हो जाते हैं। ऋषि दम्पति परमेश्वर की प्रतीक्षा में जीवन का बहुत काल बिता देते है। इसी बीच गाधिनन्दन

महाराज विश्वरथ का वशिष्ठाश्रम में आगमन होता है और महर्षि वशिष्ठ द्वारा कामधेनु के माध्यम से अपना स्वागत देख उसकी लिप्सा से राजा का मन मचल जाता है और वह बल प्रयोग से कामधेनु को लेना चाहता है। वशिष्ठ के द्वारा ब्रह्मदंड से दंडित होकर ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति के लिए उग्र तपस्या करके विश्वरथ विश्वामित्र बन जाते हैं। उनके अनेक प्रतिशोधों के झंझावात से महर्षि वशिष्ठ विचलित नहीं होते और उनकी यह अलौकिक क्षमा सौ पुत्रों के निधन के पश्चात, शक्ति जैसे पुत्र रत्न को उपस्थित करती है। विश्वामित्र द्वारा शक्ति को राक्षस के माध्यम से समाप्त करा देने पर महर्षि वशिष्ठ के मन में उपराम जाग्रत होता है और वे पौत्र पाराशर को आश्रम के कुलपति का भार सौंपकर वानप्रस्थ प्रक्रिया के लिये प्रस्तुत होते हैं, इसी बीच ब्रह्मा का शुभागमन होता है और उनके द्वारा गृहस्थाश्रम में रहने का आदेश और भगवत् दर्शन का संदेश पाकर वशिष्ठ अयोध्या के निकट नये सिरे से आश्रम निर्माण करके द्वितीय आश्रम में प्रवृत हो जाते है ; फिर भक्ति का साक्षात्कार होने पर श्रीराम जन्म के साथ ही अरुन्धती के गर्भ से सुयज्ञ नामक ब्यूह का प्राकट्य होता है। सुयज्ञ वशिष्ठ के पुत्र हैं इसका सूत्र वाल्मीकि रामायण में सुस्पष्ट रूप से मिलता है।

वसिष्ठ पुत्रं तु सुयज्ञमार्यं त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।

(सर्ग ३१ का ३७ श्लोक वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड)

सुयज्ञ भगवान राम के मित्र हैं और उनकी शिक्षा दीक्षा भी श्रीराम के साथ ही सम्पन्न होती है। अनन्तर विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाकर श्रीराम भगवती सीताजी के साथ विवाह सम्पन्न करके अयोध्या लौटते हैं और श्री अवध में ही सीताजी का अरुन्धती जी के साथ प्रथम संवाद सम्पन्न होता है। कैकेयी की कुमन्त्रणा से भगवान राम चतुर्दशवर्षीय वनवास यात्रा समपन्न करके माँ अरुन्धती के आश्रम में ही प्रथम पारणा सम्पन्न करते हैं; यही है अरुन्धती महाकाव्य की कथावस्तु।

भगवत् कृपा से अरुन्धती महाकाव्य में मानव जीवन के बहुशः आदर्शमय आयामों की संयोजना की गयी है। अबतक प्रचलित समस्त काव्यधाराओं के निदर्शन भी यथासंभव प्रस्तुत किये गये है। संस्कृतनिष्ठ शब्दावली और स्वाभाविक विचारणा से उद्भूत कर्म, उपासना, ज्ञान से मंडित परमेश्वर भक्ति के भी विविध उपादान सहजतः इस महाकाव्य में आ गये है। बीच बीच में गीत भी विन्यस्त किये गये हैं। राष्ट्रभक्ति और रामभक्ति के साथ-साथ प्रगतिशील विचारों को भी प्रचुर स्थान दिया गया है। ऋषि दम्पति की त्रिकालज्ञता के कारण उन्हीं के माध्यम से भावी रामकृष्ण कथाओं का समायोजन महाकाव्य के औचित्य का ही आधार समझा जाना चाहिए! पूर्वाश्रम का नाम **'गिरिधर'** मेरे काव्य जगत के नाम के रूप में स्वीकृत है; अतएव कभी-कभी प्राचीन कवियों की भाँति उसका भी कहीं-कहीं संकेत हुआ है। इस प्रकार मैंने भगवान श्रीराम की प्रेरणा से अपने आध्यात्मिक और सामाजिक अनुभवों के आलोक में राष्ट्रीय चेतना के मूल्यों को भारतीय संस्कृति के तागे में पिरोकर इस अरुन्धती महाकाव्य की संसृष्टि की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह मेरा साहित्यिक प्रयास कवियों, मनीषियों एवं विपश्चित पुंगवों की मनीषा को अनुरंजित करने में कृतकार्य हो सकेगा।

श्री राघवः सन्तनोतु
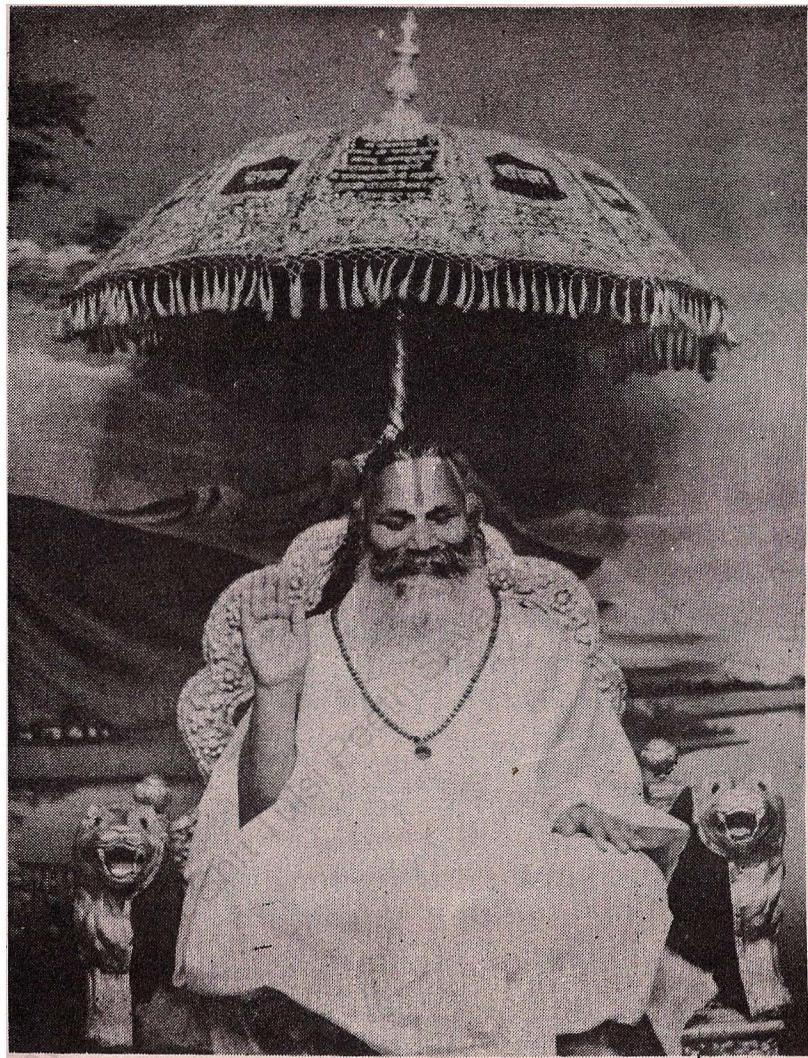
सर्वाम्नाय श्री तुलसीपीठाधीश्वर श्रीमद् जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य
अनन्त श्री समलङ्कृत १००८ श्री रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ—आमोदवन, श्री चित्रकूटधाम

संक्षिप्त जीवन वृत्त

१. **जन्म स्थान—** १४ जनवरी १९५२ मकर संक्रान्ति की एकादशी के मध्यरात्रि में। ग्राम शाणिखुर्द, जनपद-जौनपुर (उत्तर प्रदेश)

२. **पारिवारिक परिवेश—** पिता श्री राजदेव मिश्र, माता—श्रीमती शची देवी, चार भाई और छः बहनों सहित भरा पूरा सुखी सम्पन्न परिवार।

३. **शिक्षा—** प्रारंभिक शिक्षा सर्वप्रथम पूज्यपितामह श्री सूर्यबली मिश्र जी के द्वारा गीता और मानस का आद्यन्त कंठस्थीकरण अष्ठ वर्ष की अल्पायु में ही कराया गया। तदुपरान्त स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत विश्वविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की प्रारम्भिक शिक्षा सम्पन्न करके विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी स्थित सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रवेश। परीक्षा के हर स्तर पर सर्वातिशायी अंकों की प्राप्ति तथा विभिन्न प्रकार की स्थानीय एवं राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में प्रथम आने पर अनेकानेक स्वर्ण पदकों से सम्मानित तथा आचार्योपाधि प्राप्त्योपरान्त यू०जी०सी० के द्वारा **"अध्यात्मरामायणे अपाणिनीय प्रयोगाणाम विमर्शः"** विषय पर नौ सौ रुपए की प्रतिमाह छात्रवृत्ति प्राप्त कर १९८१ में शोध सम्पन्न कर **विद्यावारिधि (Ph.D)** की उपाधि से अलंकृत।

८. **प्रकाशित कृतियों का विवरण**-

१. मुकुन्द स्मरणम (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग १, २, २.भारत महिमा, ३.मानस में तापस प्रसंग, ४. परम बड़भागी जटायू, ५. काका विदुर (हिन्दी खण्ड काव्य), ६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य), ७. जानकी कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य), ८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत, ९. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ), १०. तुलसी साहित्य में कृष्ण कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ), ११. सनातन धर्म की विग्रह स्वरूपा गौ माता, १२. मानस में सुमित्रा, १३. श्री रामानन्द सिद्धान्त चन्द्रिका (संस्कृत में दर्शन ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित), १४. भक्ति गीत सुधा (गीतकाव्य), १५. श्री नारद भक्ति सूत्रेषु राघव कृपा भाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित),

९. **प्रकाशन क्रम में आनेवाली कृतियों का विवरण**

दर्जनों पांडुलिपियाँ तैयार हैं किन्तु अभी सर्वप्रथम उपनिषदों के भाष्य आनेवाले हैं।

३. **धर्मचक्षु का पर्यवसान—** जन्म के द्वय मासोपरान्त रोह रोग से चर्म चक्षु का तिरोधान तथा अन्तः चक्षु का उन्मेष।

५. **उपनयन संस्कार—** (२४ जून, १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन आठ वर्ष की अवस्था में वैदिक परम्परानुसार सम्पन्न हुआ तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ तत्कालीन क्षेत्रीय मूर्धन्य विद्वान पं० श्री ईश्वरदास जी महाराज, जो श्री अवध जानकी घाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८

श्री रामवल्लभाशरण महाराज के परम कृपापात्र थे, से राममन्त्र की दीक्षा प्राप्ति।

६. **विरक्त दीक्षा—** १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम पावन दिवस पर श्री रामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर पूर्वाश्रम के **डॉ० गिरिधर मिश्र** की जगह **श्री रामभद्र दास** नाम से समलंकृत।

७. **साम्प्रतिक दिनचर्या—** श्रीमद् तुलसीदासकृत मानस रामायण, श्री मद् वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद् भागवत तथा श्रीमद् भगवतगीता एवं अन्यान्य पुराणादि पर गम्भीर प्रवचन में पूरे देश का भ्रमण करते हुए अपने दैनिक पूजन अर्चन में प्रायसः विभोर रहते हुए भगवान् राम के बालरूप विग्रह के साथ वैदिक परम्परानुसार सांगोपांग उपासनारत।

प्रसंगात आचार्य श्री के प्रथम जन्म दिवस समारोह के सुअवसर पर उनके प्रथम शिष्य डा० रामदेव प्र० सिंह 'देव', वि० वि० प्राचार्य, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा की पद्यमय भावांजलि भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—

जन्म दिवस की पूर्व रात्रि, माता श्री को शुभ स्वप्न हुआ;
क्या सोयी हो, जाग अरी! तव गोद आज अतिपूत हुआ।
भोजन दे शुचिमन भीक्षा भी, अद्भुत बालक पा खुशीमना;
तू महापुरुष की जननी बन, सम्पूर्ण विश्व को सुखी बना।
कह रहा विप्र कोई, देखा, फूली न समायी माता तब;
उसने दी भीक्षा भोजन ज्यों, खुल गया स्वप्न क्या भाता अब।
हुई प्रसव वेदना शुरू, दिन था शुचि एकादशी अहो!
प्राकट्य घड़ी ज्यों ही आयी, सारा जग दिखा प्रसुप्त कहो।
थी मध्य रात्रि की बेला यह, गुरुवर शिशु गिरिधर से आये;
अद्भुत प्रतिभा औ' तेज पुंज, सर्वांग पुष्ट सबको भाये।
संक्रान्ति के दिन अटल तिथि, संयोग चौदह जनवरी
उन्नीस सौ बावन धरा, पर ज्योति ज्यों एक अवतरी।
वाशिष्ठ ज्योतिर्धर वही, गिरिधर जगद्गुरू रूप में,
आये पुनः उद्धार हित जो, जन पड़े भव कूप में।
चौदह से चौदह भुवन का, तिथि रूप से संकेत है;
उन्नीस तत्त्वातीत प्रभु, वावन ही ज्यों अभिप्रेत है।
कलिकल्क अंबुधि सोखने, ज्यों स्वयं कुंभज ही अहो!
व मूर्त्त वेद-पुराण ही, सद्धर्म रक्षणहित कहो।
पाकर अहो! इस रत्न को, चौदह भुवन अब धन्य है;
है धन्य किंकरदेव भी, यदि भक्ति श्रद्धानन्य है

□

श्रीमत् सद्गुरुवे नमः

प्रस्तुति

प्रस्तुत **"अरुन्धती"** महाकाव्य के प्रणेता सारस्वत प्रतिभा सम्पन्न पौराणिक आख्याणों के मर्मज्ञ और वैदिक वाङ्मय के महाप्राज्ञा सर्वाम्नाय तुलसी पीठाधीश्वर जगद्गुरू श्री रामानन्दाचार्य श्री रामभद्राचार्य जी महाराज हैं। संस्कृत भाषा निष्णात कवि पुंगव पूज्यपाद श्री आचार्य जी ने इस महाकाव्य की सर्जनात्मक परिधि में वेदसम्मत आस्तिक दर्शन के शाश्वत सिद्धान्तों का अनुशीलन भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिविम्बित करते हुए मानव जीवन की सम्पूर्ण कालावधि की विकासोन्मुख भावदशाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विम्वनिरूपण—**सृष्टि, प्रणय, प्रीति, परितोष, प्रतीक्षा, अनुनय, प्रतिशोध, क्षमा, शक्ति, उपराम, प्रबोध, भक्ति, उपलब्धि, उत्कंठा** और **प्रमोद** सरिस पंचदश सर्गान्तर्गत शीर्षकों में करते हुए वैदिक वाङ्मय के विरल व्यक्तित्व ब्रह्मापुत्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और उनकी चिरानुसंगिनी परम पुनीता परिणीता कर्दम कन्या भगवती अरुन्धती के आद्यन्त जीवनादर्शों के सन्दर्शन में पौराणिक आख्यायिकानुसार गाधिनन्दन महाराज विश्वरथ के आखेटक्रम में ब्रह्मर्षि आश्रम प्रवेश पर ऋषि-दम्पति द्वारा निमिष मात्र में आयोजित दिव्योपम राजोचित अभ्यर्थनाजन्य कौतूहलों के समाधानार्थ, तपःपूर्ण तृणशाला में वशम्वदा कामधेनु की उपस्थिति से मनवांछित सार्वकालिक सुख सम्पदा की उपलब्धि अभिज्ञात होने पर, उसे अविलम्ब हस्तगत करने की निष्फलता की प्रतिक्रिया में युद्धोन्मत होते हुए रणांगन में परास्त होकर, प्रतिशोधात्मक आचरण ग्रहण करते हुए, तपस्यालीन होकर ब्रह्मर्षि पद पाने की कामना में भी मेनका और रम्भा के कामपाश में बंधकर विफल मनोरथ प्राप्ति पर, अन्ततः ईश्वरीय प्रेरणा से संयमशीलता ग्रहण कर, ब्रह्मर्षि के चरणों में श्रद्धा सुमन चढ़ाते हुए विश्वरथ से विश्वामित्र बनने तक के कथावृत्तों को संयोजित कर, मानवीय जीवन मूल्यों की शाश्वत प्रतिष्ठापना में 'संयम' को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए जहाँ नारायण तक पहुँचने का आधार कहा है—

"शुचि मानवीय शाश्वत मूल्यों की संयम प्राण प्रतिष्ठा है,
यह लोकोत्तर बहुमूल्य रत्न यत्नों की मंगल निष्ठा है।
संयम मनुष्य को देवों के सिंहासन पर विठलाता है,
इस नर को भी नारायण से संयम अविलम्ब मिलाता है।। (पृ.९८ सर्ग ६)

वहाँ गार्हस्थ्य आश्रम को आश्रम जीवन का सार सर्वस्व घोषित कर, मानवों को सनातन धर्मावलम्बी बनकर, अनासक्त भाव से ईश्वरोपासना और भगवद्भक्ति में लीन रह कर इन्द्रिय निग्रह और अनपेक्षित अर्थ संग्रह पर कठोर अंकुश रखते हुए प्राणीमात्र के प्रति स्नेह, सद्भाव, सदाशयता, सदाचार, करुणा और उपकार से आप्लावित होकर परमपिता परमेश्वर के चरणों में अपने आपको निमज्जित कर देने की बात भी की है। उदाहरणार्थ उपरोक्त तथ्यों के आलोक में निम्नांकित पंक्तियाँ पठनीय हैं—

गृहस्थाश्रम से संबंधित उद्धरण–

(क) शुद्ध गृहस्थाश्रम ही सचमुच मूल आश्रमों का है,
जैसे सुदृढ़ वृक्ष आश्रय फल मूल संगमों का है।
(पृ. ५० सर्ग ४)

(ख) इस गृहस्थ आश्रम को गर्हित कहता कौन मनीषी
किसको बिबुध वन्द्य सुरभि भी लगती अरे खरी सी?
किस अभाग्यशाली को उज्ज्वल हिमकर दिखता पीला?
किसको भागीरथी पूरशित अरे भासता नीला?
(पृ. ५२ सर्ग ४)

(ग)कौन गृहस्थाश्रम को कहता, घोर नरकप्रद जटिल जघन्य;
परब्रह्म भी इसके कारण, हो जाते हैं अतिशय धन्य
यही ब्रह्म को पुत्र बनाकर अपने अंक खिलाता है;
पलक पालने पर ईश्वर को, यही सदैव झुलाता है।
(पृ. १८४ सर्ग १३)

(घ) तीनों अन्य आश्रमों का भी, यही सदैव पिता माता;
इसके बिना न कोई आश्रम, कभी सफलता को पाता।
नरक रूप होता परन्तु यह, जब इसमें आती आसक्ति;
यही स्वर्ग अपवर्ग अनूठा, जब इसमें आती, हरिभक्ति।
(पृ. १८४ सर्ग १३)

इसी भाँति उपरोक्त तथ्यों के आलोक में ही धन-सम्पदा और सुख-समृद्धि की आसक्ति में मनुष्य उच्छृंखलता को प्राप्त कर अनियंत्रित भोग की कामना करते हुए नाना-विध समस्याओं में उलझकर ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष और पाखंड के वशीभूत हो जीवन को नरक बना डालता है। अतएव आचार्य श्री के अनुसार निष्काम भाव से ईश्वरोपासना में लीन रहकर ही मनुष्य इस दुर्गम भवसागर को पार कर सकता है। उदाहरणार्थ—

(ङ) मानव की कुप्रवृतियाँ ही प्रस्तुत करती हैं महोत्पात,
उच्छृंखल इच्छाओं से ही होता अनर्थ का सूत्रपात।
अनियंत्रित भोग वासना ही शैतान बनाती मानव को,
यह श्री मदान्धता ही सृजती पल भर में उद्धत दानव को।।
(पृ. ८३ सर्ग ६)

(च) दुर्दान्त इन्द्रियों का समूह नर को पिशाच कर देता है,
आशा सुरसा का मुख संयम मारुति-को भी ग्रस लेता है।
जो हो न सका पलभर को भी इस मुद्रा राक्षस का शिकार,
वह ही कर सका सफल जग में रहकर भी प्रभु को नमस्कार।
(पृ. ८३ सर्ग ६)

(छ) वैध्य भोग स्वीकृत है पर, वह भी श्रुति धर्म नियन्त्रित,
चपला मृत्यु हेतु बनती, यदि न हो यंत्र से यंत्रित,
उच्छृंखल जीवन भी तद्वत, सारहीन इस जग में,
सदा अपेक्षित अनुशासन है, राष्ट्र धर्म मुद मग में॥
(पृ. ५४ सर्ग ४)

(ज) आवश्यकता सुरसा मुख ज्यों-ज्यों बढ़ता जायेगा।
दृढ़ विवेक मारुति पर त्यों-त्यों संकट ही आयेगा।
अतः अपेक्षाओं को कर, सीमित कर्त्तव्य समीक्षित;
राष्ट्रधर्म रक्षण मख में मानव हो सकता दीक्षित।

(झ) यह अर्थवाद मानव की, तृष्णा को अधिक बढ़ाता,
कर दानवता का सर्जन, जीवन रसहीन बनाता।
(पृ. १६२ सर्ग ११)

(ञ) सब अनर्थों का यही आसक्ति ही, मूल है जननी यही भव सूल की,
इस महाविष वल्लिका को शीघ्र, ही ज्ञान असिं से काट देना चाहिए।
(पृ. १३५ सर्ग १०)

अतएव आचार्य श्री ने नानाविध भोग वासना और आसक्तिजन्य दुःख दावाग्नि और पीड़ा की जटिलताओं से मुक्त होने के लिये गृहीजनों को अनासक्त भाव से ईश्वरोपासना में लीन रहने का मार्ग निर्देशित किया है। इस दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(ट) इन जटिल समस्याओं का, है समाधान एक अनुपम।
आरूढ़ भक्ति नौका पर, नर तर सकता भव दुर्गम॥
(पृ. १६३ सर्ग ११)

(ठ) मैं कहता आसक्ति मृत्यु है, अनासक्ति ही है जीवन;
अतः गृहीजन सावधान हों, अनासक्त मन करें भजन।
(पृ. १८४ सर्ग १३)

इस तरह प्रस्तुत महाकाव्य के प्रकाशन क्रम में भूल सुधार (प्रुफ रीडिंग) करते हुए दो-तीन बार के आद्यन्त अध्ययन मनन से हमारी अल्पमति ने जो ग्रहण किया वह पूज्यवाद गुरूदेव के श्री चरणों में समर्पित करते हुए पाठकों के सम्मुख 'प्रस्तुति' के रूप में रख रहा हूँ। संभव है भक्ति वेदान्त से संबंधित इस गहन विषय को अपने विचार विथि में हम समा नहीं पाये हों, परन्तु आशक्ति अैर विरक्ति के कूलों को संस्पर्शित करते हुए जिस भक्ति रस गंगा को यहाँ प्रवाहित किया गया है उसमें अवगाहन करने पर "सुर सरिसम सब कर हित कोई" की चरितार्थता निस्संदिग्ध है, ऐसी मेरी धारणा है।

अन्ततः पूज्यनीयाँ **कुमारी गीता देवी जी, प्रबन्धक, श्री राघव साहित्य प्रकाशन निधि, हरिद्वार** के प्रति भी हम अपना आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकते जिनकी कृपा करुणा से ही इस भगवद् साहित्य सरोवर में अवगाहन करने के दायित्व निर्वाह में अपने सुख सौभाग्य को सराहते नहीं अघाते। तथास्तु—

जगतानन्द प्रसाद सिंह 'भारतीय'
'स्वामिक' भारतीय प्रकाशन
काजीपुर, नयाटोला। पटना ४।

श्रीमत् सद्गुरवे नमः

संस्तुत सम्मति

'अरुन्धती' महाकाव्य एक नूतन वाङ्मयी प्रयाग है हिन्दी साहित्याकाश में— 'नूतन' इस कारण कि इसमें कविकुल चूड़ामणि प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद हुलसी नंदन कृत तुलसी 'मानस' स्थित 'राम भक्ति', 'ब्रह्म विचार' एवं 'कर्मकथा' रूप गंगा, सरस्वती और यमुना की धारायें तो हैं ही, साथ ही शब्द, अर्थ, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अन्यतम उत्ताल तरंगे भी उद्वेलित हैं; जो मनीषी अध्येताओं को सहज ही लोकोत्तर चैतन्य से साक्षात्कार कराकर उसे परमानन्द की प्राप्ति भी करा देती हैं। इसकी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि एक ओर यदि इसमें सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का रसास्वादन हुआ है तो दूसरी ओर निखिल लोक जीवन के क्रूरतम यथार्थों का सम्यक एवं निर्भीक निदर्शन भी। जहाँ तक इसकी शब्द-सम्पदा, अर्थ गांभीर्य और रसनिष्पादन सम्पदा का प्रश्न है इस पर निष्पक्ष दृष्टिपात करने से हमें सहज ही ऐसा भासता है कि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक 'वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि' के साथ-साथ 'मंगलानां च कर्त्तारो' तक की सार्थकता का सम्पूर्ण दायित्व निर्वहण करते हुए प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता महाप्राज्ञा सरस्वती के वरदपुत्र अनन्तानन्त श्री समलंकृत कविपुंगव परमाचार्य चरण ने एक अद्भुत साहित्यिक प्रयोग प्रस्तुत किया है—एक ऐसा प्रयोग जिसमें शब्दार्थ की सैंधव गहराई के साथ-साथ अनुभूति की हिमालयी उँचाई भी सर्वत्र परिदृष्ट होती है। अर्वाचीन सारे कवियों चाहे वे हिन्दी जगत के हों या पाश्चात्य जगत के, उन सबों की सर्वोत्तम कृतियों में भी शब्दार्थ एवं अनुभूति का ऐसा मणि कांचन संयोग विरल ही नहीं सुदुर्लभ है। वर्तमान दृगदोषयुक्त एवं दिग्भ्रमित जनमानस को पुनः दिव्य दृष्टि प्रदान करनेवाला साहित्य का इधर युगों से अभाव था जिसकी पूर्ति **'अरुन्धती'** अवश्य करती दिखेगी—ऐसी मेरी मान्यता है।

प्रथम शिष्य
आचार्यचरण के अकिंचन किंकर
डा० रामदेव प्र० सिंह 'देव' एम० ए०
वि० वि० प्राचार्य, छपरा, बिहार।

अरुन्धती

"श्रीमद्राघवो विजयते तराम्"

अरुन्धती महाकाव्य

प्रथम सर्ग

सृष्टि

वर्तमान प्राकृत प्रपंच को
स्वान्त वसन् में मणि ज्यों मेल;
सलिल मध्य वट पत्र तल्पगत
रहा एक श्यामल शिशु खेल।
रहा व्याप दिशि-विदिश मध्य
प्रालेय समत्र निविडतम तम;
अन्धकार या कहो ज्योति
पर बाल नीलिमा का संभ्रम। १॥

रहा दीख निःसुप्त तिमिंगिल
सागर-सा यह नील गगन;
नहीं प्रकट थे जहाँ इन्दु रवि
नहीं भासते थे उडुगन।
दुर्विभाव्य छाया समत्र था,
नीरवता का यह साम्राज्य;
अहो! देवमाया का कैसा,
सन्नाटे में अद्भुत राज्य॥ २॥

पंचभूत तन्मात्राओं के सहित
प्रकृति थी नीरव मूक;
मानो उससे आज हो गई,
कोई एक अतर्कित चूक।
सकल सृष्टि निद्रित असीम गत
कालात्यय करती चुपचाप;
फिर भी थे अविराम चल रहे
स्थिर सत्ता के कार्य कलाप॥ ३॥

वातावरण शान्त था नीरव,
नहीं चल रहा था पवमान;
शब्दोपरत नियति करती थी,
उस अनन्त सत्ता का ध्यान।
नहीं आज खगकुल का कलकल,
वियत विलसता विगत निनाद;
तदपि खेलता शिशु एकाकी
वीचि बीच था विरत विषाद॥ ४॥

एकाकी निरपेक्ष भाव से
भवप्रवाह लखता चुपचाप;
निजानंद निस्यन्द महाह्रद
मीन सदृश कृत केलि कलाप।
नहीं वहाँ उपकरण खेल के
न था वहाँ पर क्रीड़ास्थल;
फिर भी रहा केलि में तन्मय
चंचल-सा बालक निश्चल॥ ५॥

अति अगाध कीलाल मध्य
था, एक विलसता वर न्यग्रोध
भवप्रवाह उपरम भी जिसका
कर न सका किंचित् अवरोध।
डुबा न पाया जिसको अब तक
प्रलय जलधि का वीचि विलास।
रहा लहरता लहरों में ज्यों;
वनरुह का वन मध्य पलाश॥ ६॥

थी प्रलीन सब सृष्टि नहीं था
किंचित् दृश्य विराट निकट;
अरे! रहा फिर भी अक्षत्
शिशु बालकेलि हित अक्षय-वट।
निश्चित भक्त भावनामय था
यह अपूर्व वट भूतातीत;
रहा तैरता प्रलय जलधि में
हुआ न मन में किंचित् भीत॥ ७॥

उस अनन्त न्यग्रोध विटप का,
जल में तैर रहा इक पर्ण;
जिसकी भाग्य विभव गरिमा पर
अहो ! आज भी सेर्ष्य सूपर्ण।
निखिल लोक जड जंगम जिसमें,
चिरनिद्रित थे यथावकाश;
उसी ब्रह्म शिशु का आश्रय था
बना, अहो ! वट विटप पलाश ॥

नील नीर ऊपर नीरज-सा
अविरत पर्ण रहा था तैर;
मनो नील अंचल माया का
जल में केलि रहा कर स्वैर।
पूर्व कल्प कौसल्या का क्या
दलीभूत यह नीलाँचल ?
नहीं मग्न कर पाया जिसको
प्रलय वारिनिधि का भी जल ॥

अकस्मात लख उसे समागत
हो उस पर राघव आसीन;
निज जननी की पूर्व स्मृति वश,
हुए बालक्रीडा में लीन।
उसी श्याम अभिराम पत्र पर,
लेट चरण को कर उत्तान;
पदांगुष्ठ का मुख सरोज में,
मेल कर रहे सुख से पान ॥

निर्भर प्रेम प्रमोद मग्न शिशु,
पद का रहा अंगूठा चूस;
पाटल पुष्प पयोज चषक से,
शशि को सौंप रहे पीयूष।
वीतराग मुनि योगिवृन्द सब,
त्याग गेह ममता मद काम;
किस रस हित मम चरण कमल का,
स्मरण कर रहे आठों याम ॥

निश्चित इस अंगूठे में लसता,
कोई एक अनूठा स्वाद;
जिससे प्रकट जाह्नवी भरती,
सकल विश्व में परमाह्लाद।
मैं भी उसी अपूर्व स्वाद का,
क्रीडा मिस कर लूँ अनुभव;
अतः लगे पीने पदरूह को,
कौतूहल वश करूणार्णव ॥ १३॥

मुख-सरोज में कर-सरोज (धृत)
अधिक विलसता चरण-सरोज;
इन्द्रनील सम्पुट निलीन ज्यों,
प्रगुण त्रिगुणमय तीन पयोज।
लेटे परम प्रसन्न पत्र पुट
मध्य राजते बाल मुकुन्द;
मरकत सम्पुट कलित कंज
कल कोष मध्य मनो ललित मिलिन्द। १४॥

निखिल लोक लावण्य धाम
अभिराम जलद-सा श्यामल तन;
जिस पर दमक रहा दामिनि-सा,
झिलमिल-झिलमिल पीत वसन।
दिव्य योगमाया अम्बर-से,
कर ऐश्वर्य समावृत आप;
साक्षि रूप में देख रहे थे,
चुपके-चुपके प्रकृति कलाप। १५॥

मदन महित मधुकर करम्ब-से,
रुचिर चिकुर कुंचित मेचक;
अनायास सोल्लास लटक थे
रहे, कंज आनन को ढक।
अमृत पान का लोभ नीरधर
कर न सके किंचित् संवृत;
तुरत निरीह निशाकर मंडल
किया उन्होंने ज्यों आवृत। १६॥

सकल लोक कर भ्रू विलास
था, समुल्लसित दृग में अंजन;
जिसे विलोक लजाते थे,
मृग मनसिज सरसिज शिशु खंजन।
आयत भाल मनोज चाप-सा,
मुनि मन हरता ललित तिलक;
श्रुति कुंडल छूते कपोल को,
जिन्हें चूमते कुटिल अलक। १६॥

जगत सृष्टि कारक अचेष्ट
ईश्वर के उद्बोधन के हेतु;
बंदी बन आये युग महिसुत
युगल वृहस्पति बहुशः केतु।
निखिल वेद वांग्मय निधान था,
कल-वल किलकिल मधुर बचन;
जिस अपूर्व अव्यक्त निलय-से,
हुआ समीरित सकल सृजन। १७॥

निराकार साकार सृष्टि का,
हुआ जहाँ से परिणोदन;
स्मित सरोज-सा विकस रहा था
शिशु मुकुन्द का इन्दु वदन।
त्रिशिख तिग्म ज्वाला वलीढ,
सम्भूत जहाँ से हुआ अनल;
जिह्वा मंजुल पद्म कोष-सी
जहाँ प्रकट जन जीवन जल। १८॥

अरुण अधर सौरभ प्रवाल-सा
संकट शमनि मन्द मुस्कान;
आनन अमल अनल्प कल्प
कल्पना तल्प माधुर्य निधान।
मांसल अंस कलभ कर सुन्दर,
लघु-लघु ललित ललित सुकुमार;
सिरिश मृदुल कररुह सुस्मृति से
विगलित होता भव भय भार। १९॥

बाल विभूषण वसन अंग प्रति,
लसते थे, जैसे सोदर्य;
पाया, किन्तु इन्होंने ही उस,
शिशु के तनु से ही सौन्दर्य।
सकल रूप सौभग-निधान में,
अब सुषमा सरसाता कौन ?
पूर्णकाम अभिराम राम को,
अब अभिराम बनाता कौन ? २०॥

श्री राघव के अंग संग हित,
पट भूषण मिस सुर-मुनि-वृन्द;
तपः पूत भूषित होते हैं,
छूकर श्यामल अंग अमन्द।
कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प-हर,
अनुपम यह श्यामल शिशु रूप;
ध्यान मात्र से सदा भग्न,
करता भावुक जन का भवकूप। २१॥

इस निरीह लीलारत शिशु ने,
किया, भूरिशः कालात्यय;
फिर, निहाल चकपकी दृष्टि से,
सुभग सृष्टि का विषम प्रलय।
तमस्तोम चतुरस्र व्याप्त था,
नहीं पक्षिकुल का कलरव;
नहीं गूंजते थे मिलिन्द-गण,
शान्त सृष्टि निद्रित नीरव। २२॥

सोचा शिशु ने खेल-खेल में,
बीत गये बहुशः वासर;
एकाकी आनन्द मग्न,
मैंने, खोया स्वर्णिम अवसर।
वीतराग निष्क्रिय योगी-सा,
बना रहूँ कब तक नीरस ?
करूँ प्रलय का पटाक्षेप अब,
विरचूँ नूतन सर्ग सरस। २३॥

अधिष्ठान निष्कल निरीह में,
लेकर प्राकृत आलम्बन;
नया बसाऊँ भवन कल्प में,
करूँ मधुर नूतन सर्जन।
गुणातीत स्वीकार गुणों को,
रचूँ त्रिविध धर्मों से सृष्टि;
मानव दानव देव जहाँ से,
पायें निज भावोचित दृष्टि।

जिसमें मानवता सत्कृत हो,
दानवता हो नित अभिभूत;
हो देवत्व तटस्थ जहाँ मैं,
होऊँ बहुशः आविर्भूत।
जिस पावन धरणी प्राची में,
समुदित हो रवि भारतवर्ष;
याज्ञिक धूमकेतु से पावित,
सत्य सनातन धर्मोत्कर्ष।

भूमि पद्मिनी मृदु पराग-सा,
जहाँ अवध का आविर्भाव;
बन मिलिन्द शिशु राम वहाँ मैं,
रमूँ, बढ़ाकर शत गुण चाव।
चित्रकूट पावन शिलास्थली,
निज कर, कर सीता शृंगार;
दलूँ दर्प सुरराज तनय का,
हरूँ सभी का संकट भार।
जहाँ पुण्य पुष्कल पुष्कर में,
हो प्रारंभ द्रुहिण का याग;
जहाँ त्रिवेणी संगम मण्डित,
विलसे तीरथराज प्रयाग।
जहाँ आर्य ललना प्राणों से,
प्रियतम हों मानती चरित्र;
मानस मधुर गान से संतत,
जहाँ नारि नर रहें पवित्र॥

मीरा के कलकण्ठ गान से,
जहाँ रसित हो राजस्थान;
जहाँ सूर का श्याम रमा हो,
गिरिधर छेड़ें मुरली तान।
जहाँ धर्म रक्षण हित रण में,
करें वीर वर देहोत्सर्ग;
जहाँ सती हों पतिव्रतायें,
पायें अमल अचल अपवर्ग ॥२८॥

वृन्दा विपिन जहाँ हो सुन्दर,
करूँ जहाँ मैं वंशी नाद;
गीता कुरुक्षेत्र में गाकर,
दूँ मैं भक्ति शान्ति संवाद।
काशी पुष्कर आदि तीर्थ में,
जहाँ भक्ति शाश्वत सिद्धान्त;
जहाँ सारिकायें करती हो,
प्रस्तुत मीमांसा वेदान्त। २९॥

गंगा-यमुन तरंग समर्चित,
जहाँ आर्तिहर आर्यावर्त;
जिसके सेवन से मिट जाये,
प्राणिमात्र का पुनरावर्त।
जहाँ भारती का वीणा से,
राम नाम का हो झंकार;
जहाँ रमूँ मैं रोम रोम में,
बन दशरथ का राजकुमार ॥ ३०॥

कौसल्या-सी जननि जहाँ हो,
भ्राता भरत सरिस धृत धर्म;
लक्ष्मण-सा व्रतनिष्ठ अनुज,
रिपुसूदन-सा कनिष्ठ कृत कर्म।
जहाँ पादुका ही शासक हो,
मनुज बने उसका परिकर;
जहाँ भालू कपि ही मन्त्री हो,
जहाँ स्वयं शिव हो किंकर। ३१॥

पिता बचन पालन रत प्रिय सुत,
जहाँ राज्य का करता त्याग;
सीमन्तिनी जहाँ पति पद रत,
लेती उत्कट योग विराग।
सीता चरण सरोज रेणु से,
होवें जहाँ हुताशन शुद्ध;
अन्योन्याश्रित निर्विकार दृढ़,
जहाँ बने दाम्पत्य विशुद्ध। ३२॥

जिस वसुन्धरा गत जन-जन के,
रोम-रोम में, रमता राम;
जहाँ सुनाता सदा त्रिभंगी,
बंशी कलरव सुन्दर श्याम।
सुसंस्कार युत जहाँ नारि-नर,
हो वैदिक भाषा संस्कृत;
तुलसी दल-सा जहाँ समर्चित,
श्रीमन्मानस तुलसी-कृत। ३३॥

इस प्रकार कर मधुर कल्पना,
की प्रभु ने सांकल्पिक सृष्टि;
किया प्रथम उत्पन्न विष्णु को,
सत्व समन्वित कर निज दृष्टि।
शंख, गदा, चक्राब्ज युक्त,
करि कर सम सुदृढ़ चतुर्भुज दण्ड;
श्याम तामरस देह पीत पट,
तेज पुंज निन्दित मार्तण्ड। ३४॥

उस असीम सत्ता में शिशु के,
प्रणत हुए चरणों में विष्णु;
पा उससे प्रेरणा बन सके,
ब्रह्म जनन में वे प्रभविष्णु।
शिशु की काल शक्ति से प्रेरित,
नाभि कंज से रमानिवास;
प्रकट किये तत्क्षण विरंचि को,
कर निज माया रजो विलास। ३५॥

अरूण वारिधर सदृश रक्त तनु,
वेद गर्भ अब हुए प्रकट;
देखा एक भुजंग भोग पर,
अर्धसुप्त प्रभविष्णु निकट।
चकित देखने लगे चतुर्दिक्,
प्रकट हुए तब चतुरानन;
हो आदिष्ट किये दारुण तप
प्रजा सर्ग हित साधक बन।

उस अज्ञात प्रेरणा से की,
फिर समस्त संसृत की सृष्टि;
द्वन्द्व धर्म संसृष्टि विधा की,
मिली न फिर भी उनको दृष्टि।
जगत सूत्रधर ने विरचा,
मन से सनकादिक चतुर कुमार;
उन्हें ऊर्ध्वरेतस्क देख, फिर,
किया रुद्र का आविष्कार।

उनकी पापीयसी सृष्टि लख
तप हित दे शिव को आदेश;
किंकर्तव्य विमूढ़ विधाता,
हरि स्मरण में किये प्रवेश।
ब्रह्मा ने निज दिव्य ज्ञान से
प्रादुर्भूत किये दश पुत्र;
जिनसे मिला उन्हें मंगलमय
प्रजासर्ग का नूतन सूत्र।

भृगु, मरीचि, अंगिरा, पुलह, क्रतु,
श्री नारद पुलस्त्य वर्षिष्ठ;
अत्रि, दक्ष गुण ज्ञान विलक्षण
शास्त्र विचक्षण देव वशिष्ठ।
महाप्राण उस महापुरुष को,
द्रुहिण प्राण से किये प्रकट;
ब्रह्मचर्य मण्डित शरीर दृढ़,
तीव्र तेज साहस उत्कट।

असित केश कुंचित सिर ऊपर,
तिलक विभूषित आयत भाल;
नासा, कर्ण, कपोल, कम्र नव,
कंज विलोचन थे कुछ लाल।
अरुणापांग युग्म थे करते,
पावन स्नेह सुधा की वृष्टि;
भ्रू-विलास सोल्लास कर रहा,
ब्रह्मचर्य जीवन की सृष्टि। ४०॥

जातमात्र ऋषिवर्य वदन विधु,
विजृम्भणा भव सुरभित वात;
अचरों में भी स्पर्श व्याज से,
लाता था चेतना प्रभात।
आज गिरा ऐन्द्री सुअंक में,
रहा तरुण वैदिक रवि क्रीड़;
आज ज्ञान खग से सनाथ था,
ब्रह्मदेव हृदयान्तर नीड़। ४१॥

आज वसुमती हुई कृतार्था,
प्रकट देख अद्भुत द्विजरत्न;
ब्रह्मा का अब सफल हो गया,
प्रजा सर्ग का कल्पित यत्न।
सहज भव्य उपवीत विप्रवर,
शम-दम संयम बोध वरिष्ठ;
ब्रह्मचर्य विग्रह कृत निग्रह,
गुण संग्रह थे वशी वशिष्ठ॥ ४२॥

तरुण तेज तर्पित तमिस्र हर,
ऋषि सरसिज हित नव दिवसेश;
सहज सौम्यता महित मंजुतम,
आनन पार्वण पूर्ण निशेश।
दिव्य निकेत अथर्व वेद के,
शान्ति क्षमा के एक निलय;
सभी विरुद्ध महद्गुण उनमें,
रहे मनोकृत सहज प्रणय। ४३॥

एक ओर था सदा विलसता
ब्राह्मतेज मण्डित ऐश्वर्य;
थिरक रहा अपरत्र वहीं था
अंग अंग में मृदु सौन्दर्य।
एक ओर प्रतिभा विराजती,
पुनः वहीं राजती क्षमा;
एक ओर थी कठिन तपस्या,
पुनः वहीं छवि मनोरमा। ४४॥

कुशा, कमण्डलु, समिध, मूल फल,
वलकल, पट, भूषण, एकत्र;
यौवन तनु सुषमा सुकान्ति,
ललनाकर्षक मार्दव अपरत्र।
उद्ध्र्व पुण्ड्र रेखा मुद्रा थी,
जहाँ लसे रही तुलसी माल;
वहीं कण्ठ कण्ठी कण्ठीरव,
सम्मित द्विज वर्चस्व विशाल। ४५॥

ब्रह्मदण्ड मण्डित प्रचण्ड तम
करिकर सदृश सुभग, भुज दण्ड;
जिससे हुआ पराजित क्षण में
कौशिक-सा शासक उद्दण्ड।
अक्षमाल तुलसी माला के
पड़े उंगलियों में थे किण;
चलता उनका अजपाजप-सा
राम नाम का जप अनुक्षण। ४६॥

ब्रह्मचर्य विग्रह घर आया
क्या ब्रह्मा के स्वयं समक्ष ?
अथवा कल्पित प्रजा सर्ग का
लक्ष हुआ उनको प्रत्यक्ष ?
अथवा प्रस्तुत हुआ पुत्र बन
मूर्त रूप मन्जुल वात्सल्य ?
अथवा था साकार आज
विधि का ही स्वर्ण स्वप्न निःशल्य ? ४७॥

प्रकटा आज ब्रह्म प्राणों से
वेद मंत्र का पुण्य प्रयोग;
हुआ स्पष्ट शत पथ ब्राह्मण का
क्रिया विकल्पित विधि विनियोग।
जला भद्र भारत संस्कृति का
ब्रह्म ज्योति दीधितिमय दीप;
अष्टम वसु-सा वसुन्धरा पर
उदित आठवाँ विप्र महीप। ४७॥

अष्ट भोग से उपरत था, वह
अष्ट प्रकृति का था शासक;
अष्ट याम श्रुति ब्रह्म निरत
अष्टांग योग का अनुशासक।
अष्ट चिकित्सा अष्ट शास्त्रवित
अष्ट मूर्ति का अनुज प्रबल
अष्ट सिद्धि दाता महाव्रती
अष्ट दोष विरहित महिसुर। ४८॥

पूर्णकाम अभिराम गौर तनु
सकल वेद विद् विदित विशिष्ट;
किया योग वाशिष्ट कुतुक में
जिसने प्रभु को भी अनुशिष्ट।
रौरव नरक यातना नाशक
धृत मृगचर्म दिव्य रौरव;
जिसे प्राप्त होगा सुभाग वश
रामभद्र गुरु का गौरव। ४९॥

दिव्य ब्रह्म वर्चस्व सभाजित
द्विजवर का था रूप विशुद्ध;
जिसकी रूप रश्मि से विलसा
अरुन्धती का मन भी रुद्ध।
जिस द्विज की अप्रतिम माधुरी
माध्वी सुधा का करके पान;
अरुन्धती भी रोक न पाई
मञ्जुल मन मिलिन्द का गान। ५०॥

जिस द्विजमणि को किया समावृत
ऋषि कन्या का वसनांचल;
जिसका बना निभालक सन्तत
अरुन्धती का नयनाञ्चल।
जिसने किया समन्वित युगपद
सावधान हो योग-वियोग;
जिसने सिखलाया भूतल को
शुद्ध प्रेम का पुण्य प्रयोग।

जिसके कर में सदा बिराजी
अग्निहोत्र की सुभग स्रुवा;
नहीं स्वप्न में भी जिसने,
दुःसंग भोग का गरल छुवा।
जिसकी कुटिया को अभिरंजित
करता था, हुतवह का धूम;
जिसने पिया राम शोभा रस
निर्निमेष नयनों से झूम।

जिसकी सत्ता से कृतार्थ
द्विजकुल भूषण सरयू पारीण;
जो विसंग दुःसंग विरत
श्रुति वेद शास्त्र पारावारीण।
जिसके पदपद्मों में करता,
पूर्णब्रह्म भी नित्य प्रणाम;
किसको नहीं विमल कर देगी
उसका यह गाथा अभिराम।

ब्रह्मदेव ने छाया से की
ऋषि कर्दम की फिर उत्पत्ति;
फिर भी नहीं मिटा पाये वे
प्रजा सर्ग दारुण आपत्ति।
गये सूख झट चतुर्मुखाम्बुज
उमड़ा सिन्धु सरिस संकोच;
अंस चतुष्टय ने सहसा ही
पाई असफलता से लोच।

निष्फल हुआ हाय, श्रम सारा
नहीं हुए सपने साकार;
ढ़हा मञ्जु अभिलाषाओं का
निमिश-मात्र में यह प्राकार।
नेत्र निमीलित अवनत कन्धर,
छाया वदनों पर औदास्य;
मनो निराशा सिन्धु मग्न था,
आज कलित विग्रह नैराश्य। ५६॥

मग्न हो गया पल भर में यह
विधि का सृष्टि कर्ण चातुर्य;
व्यापा सहसा चतुर्मुखों पर
मिथुन सर्ग चिन्तन आतुर्य।
तत्क्षण उनके दक्ष भाग से
हुआ एक नर प्रादुर्भूत;
वाम भाग से हुई एक
विनता वनिता सहसा संभूत। ५७॥

मिथुन सृष्टि के आदि प्रवर्तक
जिन्हें आज कहते हैं लोग;
किया जिन्होंने सुर से नर का
विमल स्वर्ण सौरभ संयोग।
आज आर्य संस्कृति जीवित है
पाकर जिनका उद्बोधन;
मनुष्यता भी श्वास ले रही
पढ़कर जिनका सम्बोधन। ५८॥

जिनकी सुस्मृति सदा कराती
कर्म मार्ग का शुभ-स्मरण;
जिनके बल पर प्राकृत नर भी
करता पावन स्वीय मरण।
अहो! मनुस्मृति सदा जननि-सी
देती सुभग शान्ति-संकेत;
विमल दीपिका-सी ज्योतिर्मय
करती संस्कृत हृदय-निकेत। ५९॥

जिसका स्तन्यपान कर शिशु-सा
जीवित सत्य सनातन धर्म;
भारतवर्ष अजेय आज भी
जिसका पहन कृपा का वर्म।
देख अलौकिक नर दम्पति को
विधि मन में उमड़ा उत्साह;
फूट पड़ा आठों नयनों से
प्रेम वारि का विमल प्रवाह। ६०॥

महि को उद्धृत कर सुयोग से
ले प्रचण्ड सूकरावतार;
दिया वास पृथ्वी पर मनु को
हरि ने हिरण्याक्ष को मार।
शतरूपा सह गृही हुए मनु
स्वायंभुव अब निरत विहार;
जिनसे हुआ समस्त सृष्टि का
मिथुन धर्म सह कृत विस्तार। ६१॥

उनकी मध्यम सुता गुणवती
देवहूति वर नारि ललाम;
सह-धर्मिणी हुई कर्दम की
तोषित-पतिका सती अकाम।
नव निधि-सी नव कन्याओं का
हुआ उन्हीं से प्रादुर्भाव;
जिनसे हुआ सनाथित ऋषिकुल
विस्तृत विमल धर्म सद्भाव। ६२॥

कला, हविर्भू, अनुसूया, गति,
क्रिया, ख्याति, श्रद्धा, और शान्ति;
निखिल नारि वन्दित पदाम्बुजा
"अरुन्धती" धृत समता क्षान्ति।
वह निसर्ग सुन्दर सुभामिनी
चारु चन्द्रमुख कुन्द-दती;
मूर्ति बनी श्रद्धा सुभक्ति का
अरुन्धती-सी अरुन्धती। ६३॥

अनासक्ति के साथ अंग प्रति
उमड़ रहा था, नव-यौवन;
कहो, तपस्या ही आई थी,
देवहूति ढिग वनिता बन।
शशि को अष्टम कला सरी-सी
देवहूति दुहिता अष्टम;
मन्मथ भी लख मोह रहा था
छोड़ चाप सायक पंचम।

आनन पर झलकती सौम्यता
भारत संस्कृति की आभा;
सुषमा का अनन्त कपोल पर
मचल रही थी मञ्जु विभा।
कुन्तल असित उरंग वृन्द-से
पृष्ट पार्श्व पर रहे लटक;
मनो मत्त मधुकर रस निर्भर
कनक बेलि पर रहे भटक।

आर्य कन्यका का शित अञ्चल
झलक रहा झिलमिल-झिलमिल;
मानो शुक्र केतु से वार्ता
करते मित्र भाव से मिल।
स्नेहिल नयन युगल भामिनि के
अञ्चल श्वेत रहा कुछ ढाँक;
अर्ध-चन्द्र घन सहित रहा ज्यों
शरद पूर्ण पार्वण-विधु झाँक।

चुम रहे समरुण कपोल को
श्रुति गत कर्णकार के फूल;
मनो चन्द्र-मण्डल हिलोल पर
मनसिज, मीन रहे युग झूल।
करि-चंचु सम्मित नासा थी,
भौंहों का अति शान्त विलास;
मुख शशांक पर थिरक रहा था,
बाल-सुलभ शुचि मञ्जुल हास।

चिबुक चारु आयत ललाट पर
लसता गैरिक अरुण तिलक;
बीच-बीच में स्वेद बिन्दु थे,
श्वेत कुसुम-से रहे झलक।
विधि ने अपनी सृष्टि चातुरी
कर दी इसमें ही प्रस्तुत;
इसीलिए वे कलाकार के
लिये हुए सन्तत संस्तुत। ६८

भुजगराज भामिनी भोग से
सुभग पाणि पल्लव मृदुतर;
श्रम से तनिक अरुण दिखते थे,
करतल उसके सुषमा कर।
परम प्रेम पूरित उरोज युग
कलश सुदृश्य लसते उर मध्य;
मनो हेमगिरि की उपत्यका
मध्य विलसते हिमगिरि विन्ध्य। ६९

रूप माधुरी सारभूत तनु
पद में मुखर मञ्जु मञ्जीर;
कम्र-कोकनद-कोष मध्य
कलरव करते ज्यों कीर अधीर।
बिबुध बन्द्य ललना स्वरूप में
आया मनो स्वयं सौन्दर्य;
अथवा लेने ऋषि प्रसाद
छाया वन में मञ्जुल माधुर्य। ७०

चेष्टा, वचन, नयन से करती
मृग पिक खञ्जन को शिक्षित;
मन्द मन्द चालों से करती
द्विरद कामिनी को दीक्षित।
हंसिनि की भी हँसी उड़ाती
चलकर सहंस छबीली चाल;
अरुन्धती वन विहग वृन्द को
रही आर्य-संस्कृति में ढ़ाल। ७१

वषट्कार ओंकार आदि
सुनती ऋषि मुख से वह सानन्द;
धर्म-शास्त्र चर्चा समर्चिका
वनिता का उत्साह अमन्द।
मृग शिशुओं को भी सिखलाती
वह थी धर्म-शास्त्र सर्वस्व;
क्रीड़ा में भी स्पष्ट दिखाती
आर्य-नारियों का वर्चस्व। ७२॥

रवि शिशु ने भी नहीं विलोका
विवृत देवी का कोई अंग;
सौम्य विमल विधु मुख पर लसती
ब्रह्मचर्य की तरल तरंग।
उद्धत सरि-सी तरुण तरुणता
उसके धैर्य-सिन्धु में मग्न;
सदा कमल पर शैवल दल-सा
मुख पर रहता अञ्चल लग्न। ७३॥

सीमन्तिनी शिरोमणि सुन्दरी
कर्दम कन्या नारि ललाम;
सुख-से कर व्यतीत शैशव को
रूढ़ यौवना हुई अकाम।
शिशिर गया लतिका निकुञ्ज में
अब आया मधुमय मधु-मास;
उमग पड़ा कल्लोल लोल-सा
देवि अंग सौन्दर्य विलास। ७४॥

देवहूति सर में कर्दम से,
प्रकट हुआ अब कपिल-कमल;
बिखरी दिग्दिगन्त में जिसकी
मंगल परिणति सुभग अमल।
नभ में बजते वाद्य विविध विध
नन्दन मञ्जु प्रसून बरस;
जय सिद्धेश कपिल जय जय जय
कहते थे सुर हरष हरष। ७५॥

कर्दम ने कन्यायें सौंपी
ऋषियों को पा, विधि आदेश;
अरुन्धती अर्पी वशिष्ठ को
कर दाम्पत्य मधुर उपदेश।
जुड़ा मधुर संयोग दिव्यतम
परिणति को पहुँचा दाम्पत्य;
खिला प्रण्य रस सरस तामरस
लखकर दयित तरुण आदित्य।

द्वैत हुआ अद्वैत रूप अब
फिर अद्वैत हो गया द्वैत;
दायिता दयित कल्पना भू पर
प्रस्तुत हुआ प्रणयमय त्रैत।
पूर्णकाम परिपूर्ण अब हुए
निखिल वेद वारीश वशिष्ठ;
पूजित सप्त महर्षि मध्य अब
अरुन्धती गुण विभव गरिष्ठ।

परम प्रेम परिणति की सेवधि
पातिव्रत की वह आदर्श;
कर्दम कुल की कीर्ति पताका
थी वसिष्ठ कुल की उत्कर्ष;
मूर्तिमती साधन सहिष्णुता
परम तपस्या की वह प्राण;
भावुकता प्रति मूर्ति सरलता
लता तितीक्षा का निर्माण।

देवहूति की अचल धरोहर
आर्ष सभ्यता की वह मूल;
प्रतिमा थी पावन सतीत्व की
उन्मूलित भ्रम संशय शूल।
कण्टक गत पाटल कलिका-सी
कानन में रहती सानन्द;
मुनि वसिष्ठ की मोद वाटिका
मालिनि-सी आमोद अमन्द।

साधन गिरिधर गुरु वसिष्ठ की
मनो व्योम द्विज राज किरण;
रही पूजती प्रमुदित मन से
पति के सुर-मुनि पूज्य चरण।
हुई मान्य सप्तर्षि मध्य वह
करवर बोध सुधा सुख वृष्टि;
अरुन्धती अनिरुद्ध हो गई
हुई कृतार्था विधि की सृष्टि। 60 ॥

* श्री राघव : शन्तनोतु *

●

द्वितीय सर्ग

प्रणय

वनदेवि वन्दिता पति प्रिया
शुचि प्रणय मूर्ति-सी अरुन्धती;
सेवा करती गुरुता पूर्वक
पति के संयम को न रुन्धती।
सविनय सानन्द समर्चा कर,
अपने को मान भाग्य भाजन;
निज निष्ठा रति परिचर्या से
सजनी थी, रिझा रही साजन। २॥

अनुकूल भर्तृका भाग्यवती,
पति सुश्रूषा में थी तन्मय;
तन मन वाणी से अनुप्राणित
भावना भाविता कलित विनय।
झट हो प्रबुद्ध अभिषव करके,
कर उटज स्वच्छ अवलोक उषा;
कर जाती सपद व्यवस्थित वह,
ऋषि पंच-पात्र औ समिध कुशा। ३॥

पति इंगितग्य भामिनी भद्र
रख वस्तु वास्तु सब यथास्थान;
छाया-सी रहती जागरूक
सेवा में सन्तत सावधान।
कर भूमि परिष्कृत सलिल स्वच्छं
दर्भासन पावन पंचपात्र;
ऋषि की सुविधा का ध्यान सदा
रखती सात्विक तापस कलत्र। ४॥

रखती वह वातावरण शान्त
निज पति को लख स्वाध्याय निरत;
सात्विकता से संयोग सदा
करती रखती अक्षत ऋषिव्रत।
अवलोक समाधि मग्न प्रिय को
आँचल से व्यजन डुलाती थी;
संयम शीतल ऋषी नायक में
शीतलता वह ले आती थी। ४॥

कामादि दुर्गुणों का किञ्चित्
भामिनी के मन में लेश न था;
प्रतिकूल परिस्थितियों में भी
उसको कुछ क्रोधावेश न था।
तुलसी को निज सहचरी बना
रखती कुसुमों से निचित उटज;
सेवा सरसी में सरसाती
निज दयित प्रणय का नव नीरज। ५॥

पति सेवा शम-दम-नियम निरत,
परितोषितपतिका वनिता थी;
सन्तत सन्ध्या के हवन हेतु,
पति का पत्नीत्व निभाती थी।
दिवसावसान अवलोक सती
हो शुचि, वल्लभ समीप जाती;
कर साथ-साथ वह हवन दिव्य,
मानस में अतिशय हरषाती। ६॥

पढ़ते ऋषि-वर्य मन्त्र सस्वर
स्वाहा वह साथ बोलती थी;
कर कामधेनु-घृत की आहुति
मधुरस सानन्द घोलती थी।
मुनिराज स्वयं हुनते दशांक,
वह घृत का करती दिव्य हवन;
सन्तुष्ट देख वैश्वानर को,
होती प्रसन्न थी मन ही मन। ७॥

आनन्द सलिल पूरित अम्बक
तन पुलकित आनन पद्म खिला;
चिरकाल समीक्षित साधक को
साधन का शुभ फल सकल मिला।
मख में पति का सहयोग सदा
जो अड़िग भाव से है करती;
है, वही धर्म-पत्नी पति में,
जो नित सात्विक मधु रस भरती।

हा हन्त ! मूढ ! पामर ! कैसे
पत्नी में लखते कुवासना;
वस्तुतः नारि वह मन्दिर है
जिसमें समधि श्रित उपासना।
साधन की स्वर्ण वर्त्म-भूता
सात्विक पत्नी की अधर सुधा;
जो करती पति का दूर पतन
हर लेती भीषण विषय क्षुधा।

नारी नारायण की जननी
यह प्रेम कल्पतरु की वसुधा;
यह स्थली भक्ति भागीरथि की
यह मूर्त विरति वात्सल्य सुधा।
जीवन्त चित्रशाला अद्भुत
पाणिगृहीत सात्विक नारी;
जो पति का चित्र सजीव करें
दस मास मध्य सुषमा न्यारी।

यह कौन मनीषी कह सकता,
नारी नरकों का द्वार अरे;
नारी नारायण की प्रापक,
जो जन-जन में शुचि भक्ति भरे।
ईश्वर भी रह न सके क्षण भर
नारी सत्ता के बिना यहाँ;
अभिराम राम को पाला है
कौसल्या ने पय पिला जहाँ।

कुन्तल क्या बन्ध हेतु ? ना, ना,
ये कुन्त मत्त मन कुन्जर के;
दृग नहीं बाण, निर्वाण सदन
मन्दिर में वात्सल्य सुधाकर के।
क्या नर प्रमाद का हेतु अहो !
आनन चुम्बन ललना जन का ?
वह बना स्वाद का हेतु कहो,
कैसे फिर यशुमति-नन्दन का ? १२॥

अविवेकी नर के लिये बने
परिरम्भ सुखद जो नारि हृदिज;
उन कुम्भों से होता सम्भव
वैराग्य-महित वात्सल्य घटज।
है नारी सचमुच विगत-दोष
यह दोष मलिन पाशवी दृष्टि;
इसकी अदोषता से सम्भव
निर्दोष प्रणयमय सकल सृष्टि। १३॥

पर क्या धाता की विडम्बना
सुखकर दोषाकर भी सदोष
कोई न जना हो जगत मध्य
जो पूर्ण रूप से हो अदोष
कुछ कहो विधे ! क्यों मौन बने ?
क्या तेरे जग की परिभाषा ?
है अमृत उताहो विष विरंचि
क्या मूक तुम्हारी यह भाषा ? १४॥

अविराम तैल-यन्त्रित चलता
कैसा यह जन्म-मरण चक्कर;
कितना वीभत्सु, घृणित नश्वर
छन्दों का दुर्निवार्य टक्कर।
पीकर विमोह मदिरा पामर
राघव पद पंकज भुल अरे;
शतियों से रमते भोगों में
वासना धूल से नयन भरे। १५॥

पर अरे ! भोग लोलुप ! लखते
वासना हेतु तुम नारी को;
कौसल्या सम गुणशीला को
सीता सम निज महतारी को।
ओ मकरकेतु किंकर ! नृशंस !
नरपशु ! हो जाओ सावधान;
नारी में बरतो मातृ दृष्टि
छोड़ो विडम्बना का विधान। १९॥

निज क्रूर वृत्ति परितोषण को
कहते मिथ्या तुम प्रणय प्रणय;
आसक्ति चाटुकारित्व वचन
रे शठ ! तुझको भासते विनय।
निज पारतन्त्र्य बन्धन में तुम
कब तक रखोगे नारी को;
कब तक मानोगे विषय भोग
पुत्तली निरीह बिचारी को। २०॥

पर आँख खोल करके देखो
नारी का पावन मुख मण्डल,
जिसको आँसू जल से धोये
शत बार राम, सेवक-वत्सल।
करती तुझको हा क्यों घायल
नारी की नूपुर कल सिंजन;
जिससे होता है निर्विकार
मानव में श्रद्धा का सर्जन। २१॥

कब तक सोओगे तुम अचेत,
अब गई निशा नर मूढ जगो;
रख मातृ बुद्धि ललना जन में
प्रणयामृत से निज हृदय पगो।
सुन लो अब कान खोल करके
क्या दिव्य प्रणय की पूत विधा;
निज देह त्याग कर भी रखता
प्रणयी प्रणयास्पद की सुविधा। २२॥

जब तक वासना रजो रूषित
 रहता है नर का मनो मुकुर;
तब तक उपासना कामधेनु
 रखती न वहाँ निज मञ्जुल खुर।
भासता नहीं मल युत मन में
 निष्कलुष प्रणय का मधुर बिम्ब;
इसकी अनुपस्थिति में नर क्या
 धो सकता कटु कल्मष कदम्ब ?

निष्कलुष निरापद निर्विकार
 होता शुचि मनो गगन जिस क्षण;
उग जाता पावन प्रणय अर्क
 वासना घोर तम हर उस क्षण।
यह शुद्ध भाव की परिणति है
 चिर संस्कृत की आधारशिला;
यह प्रणय राम रोलम्ब हेतु
 विश्राम सद्म नव पद्म खिला।

यह मरु मरीचिका का नाशक
 कीनाश पाश का है त्रासक;
उद्भावक हृदय व्योम का ये
 वासना भुजंगिनी का शासक,
है निष्कलंक मन का तोषक
 निष्कलुष हृदय का परिपोषक;
पूषा समान तेजोनिधान
 मद मोह सलिल का संशोषक।

ब्रह्मानुभूति का सारभूत
 भावानुमेय विश्रुत विधूत;
भूतेषु भूतिकर भूतनाथ
 भावित भविष्णु भव प्रणय पूत।
यह मन मन्दिर का दिव्य देव
 जिसका है लोचन अश्रु अर्घ्य;
यह परम रम्य रत्नाधिराज
 मुनि जन सेवित मञ्जुल महार्घ्य।

इस भाँति विचार हिंडोले पर
वह झूल-झूल ललना ललाम;
सानन्द होम सम्पादित कर,
आई कुटिया में पूर्णकाम
भामिनी भद्र भावना महित
आया था साक्षात स्वर्ग उतर;
हो विविध वृन्द मञ्जुल विहंग
यश गान हेतु थे किमपि मुखर।

पद्मिनी विरहिणी बिलखाई
अवलोक अर्क प्रियतम निर्गम;
सानन्द प्रफुल्लित कैरविणी
उस ओर छेड़ती मृदु सरगम।
नवनील गगन में किमपि किमपि
अरुणिमा मधुर छबि सरसाई;
नीले निचोल पर पाटल के
बूटों की ज्यों सुषमा छाई।

कल-कल करते निज नीड़ ओर,
सानन्द उड़ रहे विंहग वृन्द;
था चलता मर-मर मलय मरुत
सुरभित शीतल मधु मन्द-मन्द।
संध्या में अब ये दीख रहे
शित, श्याम, अरुण वर तीन रंग;
मानो प्रयाग में विलस रहे
पावन त्रिवेणी का त्रय तरंग।

झिल्ली कुल की झनकार मधुर
मंगल संगीत रचाती थी;
वह अरुन्धती के नूपुर की
मुनिवर को सुरति कराती थी।
मानिनी नवोढ़ा वनिता-सी
आई निशीथिनी इठलाती;
निज दयित इनदु से मिलने को
नक्षत्र मालिनी बलखाती।

जो मुनि दयित्ता के केशों का
निज रुचि मिस सारण कराती थी;
पत्ति द्वारा मुनि को अरुन्धती
आनन की याद दिलाती थी।
सुन्दरी शर्वरी दयित संग
रति रंग निमग्न विलसती थी;
विरहार्त कोक दम्पत्ति पर वह
कर-कर आक्षेप विहसती थी।

इस मधुर प्रकृति के सरगम से
मनु की समाधि सहसा टूटी;
अब प्रणय कल्पतरु में मञ्जुल
अभिनव रस शाखायें फूटी।
था मन्द-मन्द चलता समीर
थी शरद चन्द्र रंजिता निशा;
लेती अंगडाई प्रकृत्ति वधू
पुलकायमान थी सर्वदिशा।

अज्ञात प्रणय वर्धक शशांक
मुनि मनो जलधि का उद्दीपन;
दोलायमान कुछ हुआ हृदय
उन्मिषित्त हुआ रस संदीपन।
अब आर्ष भाव में भी मञ्जुल
दाम्पत्य सूत्र का पात हुआ;
कल्पना विपिन में आज अहा
ऋतु पति का मधुर प्रभात हुआ।

पति वृत्त निरीक्षण हेतु वहाँ,
श्री अरुन्धती तत्क्षण आई;
सुमधुर उत्कण्ठा को लायी
मन में हल्की-सी सकुचाई।
नववधू चेतना नई तरल,
यौवन विभावना नयी-नयी;
नूतन उमंग नूतन तरंग
प्रिय मिलन भावना नयी-नयी।

था राग नया अनुराग नया
अवयव विभाग भी नया-नया;
था नया भाग था नया याग
कल्पना बाग भी नया-नया।
अधरों पर आज मचलती थी
मुस्कान मधुर हलकी लाली;
थे गात सिहरते पुलक पूर्ण
कर में थी पूजा की थाली।

चलती थी हँस गमन मन्थर
खोयी-सी कुछ अलसायी-सी;
सोयी-सी भाव तल्प पर वह
अकुलायी—सी शरमायी-सी।
धरती पर वह धीरे-धीरे
करती थी पायल धुन छम-छम;
अब छेड़ रही मुनि मानस में
प्रणयिनी गीत का स्वर-सरगम।

हरषी प्रमदा प्राणेश्वर को
अवलोक अपर पावक समान;
सुन्दर समुद्र से धैर्यवान
पवमान सदृश्य पावन-महान।
स्वाध्याय निरत साधक अमान
योगीन्द्र विरतिमय विमल ज्ञान;
वे आर्य-धर्म से मूर्तिमान
ओजो निधान तेजो निधान।

कर नीराजन प्रिय साजन की
पद-पंकज में करके प्रणाम;
सापेक्ष भाव से बैठ गयी
मुनि वाम भाग वामा ललाम।
नव स्वाति जलद से सलिल बिन्दु
चातकी चतुर थी चाह रही;
शारद शशांक से विभावरी
संगम अभिलाष निबाह रही।

चाहती कल्प लतिका थी अब
मृदु पारिजात का संश्लेषण;
सरिता अभिलषती थी अनुक्षण
सागर तरंग का आश्लेषण।
ऋणि ने डाली सतृष्ण सहसा
निज वामभाग दिशि प्रणय दृष्टि;
हो गयी सरस भावना मयी
तत्क्षण अवितर्कित सुखद सृष्टि। २६॥

देखा वशिष्ठ ने आज यहाँ
सस्पृह अरुन्धती बैठी है;
अति मंजु मनोरथ स्यंदन पर
भावातिरेक में पैठी है।
अवलोक प्रिया का बदन चन्द्र
उमड़ा मुनि मानस प्रणय सिंधु;
सुस्मित मुख से रस में बोले
कैसे आई हो दयित बन्धु। २७॥

तुम मधुर कल्पनामय निसर्ग
या शुद्ध प्रेम की हो प्रतिमा;
या परम प्रीति की कल गंगा
या विमल नीति की हो प्रथिमा
या घनीभूत चेतना तत्व
या आर्य सभ्यता की प्रतीक;
या तुम हो विग्रहिणी करुणा
या सात्विक श्रद्धा निर्व्यलीक। २८॥

बनदेवी ही प्रत्यक्ष यहाँ आई
मुझको करने सनाथ;
या मूर्त्त तपस्या ही मेरा
दे रही आज है सुखद साथ।
या लोचन गोचर हुई अहा
आर्यों की सुस्थिर संस्कृति है;
या अनुलक्षित हो रही सरस
मुझको नव जीवन निष्कृति है। २९॥

या स्वयं भद्र महिला बन कर
इस कानन में रति ही आई;
या सुन्दरता ने ही सुन्दर
अपनी सुषमा है सरसाई।
तुम सुर ललना या नाग-बधू
बोलो-बोलो क्यों हुई मौन;
क्या अरुन्धती या अन्य शुभे !
आई कैसे तुम कहो कौन ?

बनिता मन में थी अति प्रसन्न
प्रिय की लख बचन चातुरी को;
कुछ सस्मित विस्मित हुई देख
पति को संप्रश्न आतुरी को।
दृग मोड़ तनिक मुसका तिरछे
अवलोक छिपा मुख अञ्चल में;
बोली कोकिल स्वर में बनिता
भर कर नव-नेह दृगंचल में।

उस काल सोहता था मुखड़ा
घूंघट से उसका ढंका हुआ;
शारद शशांक नवनील जलद
संवृत मधु-रस से छका हुआ।
अंचल के मध्य विलसते थे
नीले पीले समरुण बूटे;
नीरद में सुरपति चाप छिपे
ज्यो शशिकर से अमृत लूटे।

नव नील विलोचन के अंजन
दिखते अंचल के कोने से;
ये असित-पुष्प में छिपे हुए
लगते मृदु मधुकर छौने से।
कर कर-सरोज संपुट भामिनी
कुछ मंद मंद हँस कर बोली;
मुनिवर मानस मानस-सर में
दाम्पत्य सुधा-रस को घोली।

ओ जन्म-जन्म के प्रिय सहचर ?
अब पूछ रहे मेरा संस्तव;
सरिता का परिचय कहो भला ?
विस्मृत करता क्या सलिलार्णव।
आश्चर्य अहो यह महाश्चर्य
ज्योत्सना को शशि जानता नहीं;
हा हन्त ? अंशुमाली भ्रम-वश
छाया को पहचानता नहीं।

क्या कहो कोक करता कदापि
कोकी परिचय की मीमांसा ?
कर रहा हन्त हंसावतंश
हंसिनी जन्म की जिज्ञासा ?
सर्वज्ञ पुरूष को क्या कदापि
कुछ प्रकृति विषय का ज्ञान नहीं ?
चिर संगत सागर कन्या का
अब नारायण को ध्यान नहीं ?

दुर्भाग्य ? समाधिष्ठित तनु का
विस्मरण हो गया आत्मा को ?
निज पदाधीन का स्मरण अहो
कुछ भी न रहा परमात्मा को ?
कंचन-मृग के अन्वेषण में
सीता को राम भूल बैठै ?
क्या ? कुबजा के प्रणयाजिर में
राधा को श्याम भूल बैठे ?

रोहिणी सरीसी दयिता को
अब विस्मृत कर जाता मृगांक;
निज नित्य सेविका गौरी को
अब भूल रहे भ्रम-वश वृशांक।
हम दोनों तब से हैं संगत
जब से यह चली अनंत सृष्टि;
है ब्रह्मजीव-सी निरुपद्रव
ममता द्रव-मय दाम्पत्य दृष्टि।

मुनिवर्य ? तुम्हारी नित्य सिद्ध मैं
जन्म-जन्म की हूँ दासी ;
मैं नित्य प्रणयिनी गृहिणी हूँ
तुम बनो भले ही सन्यासी।
छाया में सदा एक रसता
रबि में होते हैं विपरिणाम ;
राधिका नित्य एक रस होती
बहुरूपी होते सदा श्याम।

मैं उस समुद्र की आभा हूँ
जिसमें न कभी भी परिवर्तन ;
उस परमधाम की निष्ठा मैं
जिसमें न कभी पुनरावर्तन।
मैं उस नारद की वीणा हूँ
जो सदा एकरस में बजती ;
मैं वह वशिष्ठ की अरुन्धती
जो संयम से ही नित सजती।

तुम पुरुष पुरातन निर्विकार
मैं सदा आप की शुद्ध प्रकृति ;
तुम सहज चेतना बिम्बभूत
मैं सदा आपकी हूँ अनुकृति।
तुम चन्द्र चन्द्रिका मैं निर्मल
तुम दिनकर तो मैं पुण्य विभा ;
तुम हो सौन्दर्य मंजु विग्रह
मैं हूँ छबि कलित दिब्य आभा ॥

तुम दिव्य ज्योति के उद्बोधक,
मैं भी वह अद्‌भुत जागृति हूँ,
तुम सद्विचार मृदु मानस के
मैं भी चिर अर्चित संस्कृति हूँ।
तुम हो नवयौवन के रहस्य
तो मैं उसकी हूँ मादकता !
तुम साधन के हो मूर्त्त रूप
मैं सदा आपकी साधकता।

तुम धर्म तो मैं हूँ विरति
और तुम अर्थ तथा मैं हूँ व्यापृति ;
धर्माविरूद्ध तुम काम तदा
मैं सतत सहचरी निर्मल रति।
तुम निराबाध मोक्ष स्वरूप
मैं निरुपद्रव हूँ भक्ति सती;
तुम ज्ञान और मैं बोध विधा
तुम मनन और मैं मंजु मती।

तुम वेदमंत्र तो मैं स्वर हूँ
तुम यज्ञ और मैं सुदक्षिणा;
तुम हो हुताश मैं हूँ स्वाहा
तुम हो अर्चन मैं प्रदक्षिणा।
तुम हो सुकर्म मैं हूँ चेष्टा
तुम महापुण्य मैं सुफल क्रिया;
तुम चित्रकला के चिर कौशल
मैं मूक सुभग प्रेरणा प्रिया।

तुम गहन भाव गंभीर अर्थ
मैं हूँ कलकंठ सुगीत गिरा;
तुम अन्तरंग जल मैं तरंग
तुम चतुरानन मैं दिव्य इरा।
तुम अति निगूढ़ ध्वनि व्यंग भाव
व्यंजनावृत्ति मैं हूँ छाया;
तुम हो मायापति महामान्य
मैं भी शुचि संचालक माया।

तुम परम विलक्षण महाकाव्य
मैं कमन कल्पना की शुषमा;
तुम परम धर्ममय सजग शेष
मैं तुम पर धारित रम्य क्षमा।
तुम राम तथा मैं हूँ सीता
तुम भव मैं स्वयं भवानी हूँ;
तुम प्राणनाथ मैं हूँ पत्नी
कर्दम की सुता अयानी हूँ।

सुनि प्रिया बचन ऋषि हुए मुदित
छाया मानस में विश्रंभण;
आजानबाहु से किया त्वरित
वनिता का सादर परिरंभण।
अब पोंछू अश्रुओं को कर से
निज बाम भाग में बिठा लिया;
कह स्नेहिल वचन विविध ऋषि ने
मानिनी मनः सम्मान किया। ५६॥

वह पारिजात से आलिंगित
माधवी लता सी थी लसती;
सौभाग्य शालिनी सती आज
सुर बालाओं पर थी हँसती।
बोले वशिष्ठ हो आनन्दित
मुनि सुते ! शुभे ! दे कान सुनो;
भद्रे ! त्यागो आमर्ष पूर्व
दत्तावधान निज हृदय गुनो। ५७॥

मेरे परिहास विजल्पित को
तुमने माना सहसा यथार्थ;
आपात रम्य वाक्यों से भी
तुमने खींचा गंभीर अर्थ।
भामिनी सत्य तेरी विस्मृति
मेरी समग्रता का विनाश;
तेरी सत्ता के बिना कहो ?
कैसे मैं कर सकता विकास। ५८॥

क्या ? ज्योत्स्ना से व्यतिरिक्त चन्द्र
नभ-मंडल में करता प्रकाश;
क्या ? बेला विरहित वरुणालय
करता उत्तुंग तरंग लाश।
लखने हित तुमको प्रणय कुपित
इस मिस मैंने कुछ छेड़ दिया;
तुमने भी उसे यथार्थ मान
अपने सब भाव उड़ेल दिया।

क्या ? कोप काल में भी सुन्दरि ?
आनन तेरा रमणीय बना;
नव अरुण चारु रजनी-कर को
सौरभ प्रवाल ने मनो जना।
बस शान्त शान्त आक्रोष तजो
मृगलोचनि किंचित मुसुकाओ;
मेरे मृदु मनो मरूस्थल में
अब प्रणय जाह्नवी सरसाओ। ॥

वस्तुतः वासना से वर्जित
दाम्पत्य सूत्र कितना निर्मल;
जिसमें बँध जाते अनायास
परमेश्वर व्यापक भी निष्कल।
यह स्वर्ग-द्वार सोपान दिव्य
यह मोक्ष वर्त्म निष्काम नव्य;
मन शुद्धि हेतु यह पंच गव्य
दाम्पत्य मनुज श्रृंगार भव्य। ॥

अंगने ! स्वप्न में भी क्या मैं
तुझको कदापि ठुकराऊँगा;
विस्मृत कर निज शरीर को क्या ?
क्षण भर जीवित रह पाऊँगा।
सप्तर्षि मध्य हो समधिष्ठित
तुम जग को ज्योतिष्मान करो;
बन अरुन्धती तारा मेरे ही साथ
ब्रह्म का ध्यान धरो। ॥

नव दम्पति तुझको प्रथम देख
अब सफल करेंगे-निज लोचन;
मेरे ही साथ सदा रह कर
करती रह तू भव-मय मोचन।
युग युग तक चलती रहे अमर
दाम्पत्य प्रीति विमलित संगा;
अविराम काव्य भू पर लहरे
पावन प्रणयास्पद कल गंगा। ॥

*** श्री राघवः शन्तनोतु ***

तृतीय सर्ग

प्रीति

वर्णिनी ! हो तुम पावन प्रीति,
प्रणय सुर-तरु की मंजुल बेलि।
मधुरतम फल से संयुत सदा,
हरो जीवन की दारुण भीति ॥

मनुजता की तुम हो शृंगार
मुमुक्षु की वर विरति विभूति।
सनातन संस्कृति का चिर प्राण,
भरो जीवन में पावन प्यार ॥

सरस्वती की वीणा का तार,
सुधा सारस्वत सार समस्व।
वसुमती का वसु परम निधान,
भरो जीवन में मधुरस प्राण ॥

सभ्यता की तुम मंजुल मूर्ति,
अपेक्षाओं की पावन पूर्ति।
उपेक्षाओं की भीषण जूर्ति,
भरो जीवन में विमल स्फूर्ति ॥

विशद वाचस्पति की तुम बुद्धि,
यतीन्द्रों का हो ब्रह्म-विचार।
आद्य -जन की तुम एक विभूति,
बिखेरो मंजु मधुर-अनुभूति ॥

कमन कविता का पद-विन्यास,
नीर-निधि का कल्लोल विलास।
अमृत दीधिति का अद्भुत हास,
करो जीवन में भाव विकास ॥

सुकवि की करुण कल्पना सरस,
काव्य का जन मोहन साहित्य।
विचारों का सुस्थिर गाम्भीर्य,
भरो जन-जन में अद्‌भुत धैर्य ॥

वासना की तुम कठिन कुठार,
उपासक उर का मौक्तिक हार।
दोष दोषाकर का तुम राहू
प्रीति भर जीवन में उत्साह ॥

भक्ति-गंगा का तुम कलश्रोत,
भावना से तू ओत-प्रोत।
जीत की जीति भीति की भीति,
अहो कैसी तू निरुपम प्रीति ॥

अमर जीवन का तुम आधार,
मुमूर्षु—जनों की सुधा फुहार।
प्रेम रस की तंत्री झंकार,
ब्रह्म का एक मधुर उपहार ॥

प्रकृति का प्राण संचरण शील
अगम वेदान्ती का निर्वाण।
अभीप्सित निरई का निर्याण,
प्रीति प्रणयी का प्रणय प्रयाण ॥

क्षितिज धरती का तुम संयोग,
सुछबि सुषमा का दिव्य सुयोग।
वियोगी का तू सुखद वियोग,
प्रीति योगी का अनुपम योग ॥

आर्य-कन्या का शोभन शील,
स्नेह सौरभ का सुफल रसाल।
सुधा का भी मादक माधुर्य,
निखिल संसृति धुर का तू धूर्य ॥

विप्र संध्या की निर्मल कुशा,
रसिक खग-कुल हित मंगल उषा।
मनो रजनीकर की शित निशा,
बोध दिनकर की प्राची दिशा॥

पवन का मन्द-मन्द स्पन्दन,
प्रणय नव रस का निस्यन्दन।
मनो मधुवन का मधु नन्दन,
विबुध बन्दी का वर वन्दन॥

प्रीति जन जीवन का निश्वास,
सुसज्जन मानव का विश्वास।
चतुर चातक की उत्कट प्यास,
विरस जीवन की जीवन आश॥

प्रीति रस एक मधुर उल्लास,
कल्पना खग हित बृहदाकाश।
भाव वारिज का विशद विकास,
प्रकाशों का भी परम प्रकाश॥

प्रीति ही सदा शंभु की उमा,
सती मैथिली राम की रमा।
यही राधिका श्याम की दिव्य,
यही भारती-भारती भव्य॥

सुभगता सुभग व्यक्ति की यही,
विमलता विमल भक्त की यही।
सरलता सरल शक्ति की यही,
तरलता तरल रक्ति की यही॥

प्रीति जीवन का चरमोद्देश्य,
मिलाती परमात्मा से यही।
इसी के वश हो अगणित बार,
मही पर प्रभु लेते अवतार॥

विमल मानस की निष्कल ज्योति,
प्रीति परिणति का ही परिणाम।
सरलता का आदर्श उदात्त,
प्रीति से ही होता उपलब्ध ॥

प्रीति विधु की वह मानद कला,
जिसे शिव करते संतत मौलि।
जिसे झुलसा पाता है नहीं,
निटिल लोचन का भीषण अग्नि ॥

प्रीति भव भूषण जटा कलाप,
सदा शिव सर्प सजाते जिसे।
नहीं जा सकती जिसको छोड़,
त्वरान्वित मन्दाकिनी भी अहो ॥

प्रीति वह भुजग भोग पर्यंक,
तैरता जो प्रलयार्णव मध्य।
बना जो माधव विश्रम निलय,
प्रणत होता जिसको खगराज ॥

प्रीति है श्री हरि की इन्दिरा,
सकल शोभा सौन्दर्य निकेत।
राजति वक्षस्थल पर सतत,
आज भी बनकर जो श्रीवत्स ॥

प्रीति रघुनन्दन की मैथिली,
अनल भी जिससे हुआ पवित्र।
सदा जिनके मन-पंकज मध्य,
लसे राघव अलि ज्यों धृत चाप ॥

प्रीति कौसल्या नारि ललाम,
गर्भ में जिसके आते राम।
लसित है जिसका अंक-पयोधि,
रघूत्तम मौक्तिक मणि से नित्य ॥

प्रीति वह पावन कोसल पुरी,
जहाँ उज्ज्वल सरयू की धार।
जहाँ दशरथ का राज्य अखंड,
किलकता जिसकी रज में ब्रह्म ॥

प्रीति श्री रघुवर की पादुका,
अधिष्ठित अवध वरासन मध्य।
भरत करते जिसका अभिषेक,
नलिन नव लोचन जल से नित्य ॥

प्रीति राघव की श्यामल मूर्ति,
जानकी दृग चातक घन-घटा।
थिरकतीं वरटा सुता समान,
पवन सुत प्रेम वापिका बीच॥

प्रीति वह केवट की दृढ़ नाव,
चढ़े जिस पर रघुपति चितचाव।
लखन सीता पद-पद्म पराग,
जिसे पाकर हो गया कृतार्थ॥

प्रीति वन पावन पर्ण कुटीर,
बनाया विबुध-वृन्द ने जिसे।
मैथिली लक्ष्मण सहित मुकुन्द,
जहाँ करते सुख से विश्राम ॥

प्रीति शुचि चित्रकूट की भूमि,
मनोहर कामद-शिखर सनाथ।
तरल मन्दाकिनी लोलतरंग,
निरखते सीतापति रघुनाथ ॥

प्रीति है स्फटिक शिला की स्थली,
जहाँ करते प्रभु सिय शृंगार।
ब्रह्म शर श्रवण घोर हुंकार,
भग्न करती सुरपति सुत दर्प ॥

प्रीति रघुनायक कार्मुक-मौर्वी,
जिसे सहलाता प्रभु-कर कंज।
क्षिप्त हो जिससे खर नाराच,
जलधि जल को भी करते क्षुब्ध ॥

प्रीति वह जरठ जटायु शरीर,
विद्ध लख दशमुख से रघुवीर।
बिठा कर गोदी में मतिघीर,
बहाते बनज नयन से नीर ॥

पिता दशरथ की क्रन्दन-कथा,
भरत भैया की दारुण व्यथा।
नगर परिजन का शोक कलाप,
अयोध्या का यह मूक विलाप ॥

प्रीति वह शवरी का फल मूल,
जलधि सम्भूत अमृत का सार।
भुलाकर राजोचित पक्वान्न,
जिसे खाये प्रभु स्वाद सराह ॥

प्रीति ही रुचिर योग वासिष्ठ,
लुभाती जो हरि का भी चित्त।
वशिष्ठार्जित यह सुकृत समूह,
अरुन्धती का निर्मल वात्सल्य ॥

प्रीति ही विदुर-गेह का शाक,
सुलभ सुलभा का श्रद्धा स्वाद।
त्याग कुरुपति के छप्पन भोग,
जिसे पाते यदुपति सोत्साह ॥

कृष्ण की दयित मुरलिका यही,
अधर पल्लव रस की जो रसिक।
बजा के जिसे त्रिभंगी लाल,
चुराते ब्रज-वनिता का चित्त ॥

यही गोपीजन का नवनीत,
सुधा शत गुणित स्वाद भंडार।
क्षीर-शायी भी जिसके लिये,
ललकते करते प्रति-गृह चौर्य ॥

यही ब्रज ललनाओं का चीर,
जिसे कालिन्दी तट पर देख।
नहीं कर सके लोभ संवरण,
स्वयं पीताम्बर होकर कृष्ण ॥

स्वयं हो व्यापक पूर्ण अकाम,
निरंजन निर्गुण सत्ताधीश।
इसी के वश हो धर नटवेश,
ललित नर्तन करते भुवनेश ॥

यही है मां यशुमति की रश्मि,
सकल गुण गरिमा का आगार।
बँधा था जिससे निगुर्ण ब्रह्म,
उलूखल में ज्यों बालक अज्ञ ॥

यशोदा का यह सुत-वात्सल्य,
रोहिणी का भी नियम अकाम।
गोपिका प्रणय विटप की वेलि,
यही राधा-माधव रस केलि ॥ ४६ ॥

यही बृन्दावन कानन कुंज,
धेणु चारण लीला सुखपुंज।
यही ब्रजवधू प्रणय परिरम्भ,
यही श्री गीता का आरम्भ ॥

यही गिरिधर का शैलोद्धरण,
यही कंसादि दुष्ट संहरण।
यही मेदिनी भार का हरण,
प्रीति श्री हरि का भी उपकरण ॥

यही रथ-नन्दिघोष सुखमूल,
अधिष्ठित जिस पर केशव पार्थ।
यही गांडीव चन्ड-टंकोर,
किया जिसने रिपु-शक्ति अपार्थ॥

याज्ञसेनी की लज्जा-लता,
चरित फल संयम पल्ल्ववृत्ता।
निरख कुरु-करि से घर्षित जिसे,
पधारे श्री हरि धृत पटवेश॥

यही कृष्णा का सुमधुर शाक,
लग्न अवशिष्ट पात्र के मध्य।
जिसे कणभर खा जगदाधार,
तृप्त हो, किए चराचर तृप्त॥

यही गिरिधर का गीता गान,
आर्य संस्कृति का बीज निदान।
सकल शास्त्रों का सार निधान,
जगत को करती शांति प्रदान॥

प्रीति ही जीवन का परमार्थ,
यही मानव का सात्विक स्वार्थ।
यही परमात्मा तुष्टि का मार्ग,
इसी से है मिलता अपवर्ग॥

विनय सम्भव है प्रणय प्रतीति,
प्रणय से उद्भव पावन प्रीति।
प्रीति से पा परमेश्वर भक्ति
जीव लेता भवभय को जीत॥

प्रीति वर्जित संसार असार,
मनुज जीवन जड़वत निस्सार।
प्रीति के बिना स्वप्न में कहो,
कथम् संभव है ब्रह्म विचार॥

प्रीति से षट शमादि सम्पत्ति,
इसी से जिज्ञासा निष्पत्ति।
इसी से शुद्ध ब्रह्म उपपत्ति,
इसी से भगवत्-चरण प्रपत्ति॥

प्रीति से महावाक्य का शोध,
इसी से होता विमल प्रबोध।
लक्ष्य लक्षण का भाव उदात्त,
इसी से सर्वं ब्रह्म प्रतीति॥

प्रीति से निगुर्ण नित्य निरीह,
प्रकट हो सगुण ब्रह्म साकार।
खेलता कौसल्या की गोद,
विविध विधि करता बाल विनोद॥

प्रीति वश प्रभु वशिष्ठ के पास,
मुदित कर शस्त्र शास्त्र अभ्यास।
बैठकर अरुन्धती के अंक,
बढ़ायें गुरु-पत्नी का मोद॥

प्रीति का परम लक्ष्य क्या भोग,
जन्मते जिससे दारुण रोग।
इसी से सम्भव विषम वियोग,
विरोधी जिसका सन्तत योग॥

जन्म से यह मानव के साथ,
किन्तु वह करता विषम प्रयोग।
जोड़ नश्वर प्रपंच से इसे,
व्यर्थ सिर मढ़ता भोग वियोग॥

जगत में पाल स्वीय कर्तव्य,
बनो मत तृष्णा वधिक शरव्य।
सदा श्री राम ब्रह्म ध्यातव्य,
प्रीति का मर्म तुझे ज्ञातव्य॥

जगत सम्बन्ध समस्त अनित्य,
तुम्हारा एक परम औचित्य।
प्रीति कर परमेश्वर में नित्य,
बनो निश्चिन्त अभय कृत कृत्य ॥

यही है राष्ट्र-कर्म अभिराम,
यही है लोक-धर्म निष्काम।
यही है सुख साधन परिणाम,
जानकी-पति पद-प्रीति अकाम ॥

नहीं है इसे वासना सह्य
कामना से इसका अहि-नकुल।
अपेक्षाएँ हैं इसकी मलिन,
पंक दर्पण ज्यों करती नित्य ॥

तभी तक इसका है साम्राज्य,
न जब तक किमपि स्वत्व का बोध।
एक सुन्दर राघव पद-पद्म,
प्रतत इसका है सुखप्रद सद्म ॥

ज्ञान पंकज हित रविकर विभा,
बोध क्षणदाकर की यह प्रभा।
प्रीति नर-जीवन का सर्वस्व,
यही वसुधातल का संगीत ॥

तुम्हारे अधरों की मुस्कान,
समर्पित करती नूतन प्राण।
दिलाती शब्द ब्रह्म का ज्ञान,
छेड़ती मधुर साम का गान ॥

मधुरतम परिरम्भ की सुधा,
शुद्ध संकल्पों की वसुमती।
वितरती रोम रोम में तेज,
क्षपित करती भोगों की क्षुधा ॥

चतुर चितवन कल कोकिल बैन,
वितरते तरल कान्त संगीत।
तुम्हारी समुपस्थिति में विपिन,
स्वर्ग सुख को करता अवधूत ॥

सरलता यदि जीवन की कला,
प्रीति है उसकी नव तूलिका।
प्रणय यदि जीवन रत्न अमोल,
प्रीति है उसकी कान्ति अमंद ॥

अरुन्धती बन कर पावन प्रीति,
शास्त्र मीमांसा मंजुल नीति।
हृदय संपुट में रत्न समान,
बसो बरसो आनन्द अभिराम ॥

* श्री राघव: शन्तनोतु *

●

चतुर्थ सर्ग

परितोष

वचन सुधासम सुन वशिष्ठ के छाया उर में आनन्द,
अरुन्धती मानस में उमड़ा शुभ परितोष महाह्रद।
विकसा जिसमें परम शुद्ध दाम्पत्य सरोज मनोहर,
श्रद्धा नव पराग परिपूरित रति मकरन्द सुनिर्भर ॥

उदित हुआ तत्क्षण देवी का आनन चारु निशाकर,
मुसकाया ज़िसको विलोक मृदुहास कुमुद रस निर्भर।
अंग अंग कंटकित हो गया सिहरा सिर का अंचल,
पूरित हुए हर्ष के जल से मंजुल दिव्य दृंगचल ॥

आज प्रमोद पयोधि मग्न थी सीमन्तिनी शिरोमणि
मुदित नाचती ज्यों मयूरिणी सुन नव नीरद की ध्वनि।
आज मानती सफल जन्म थी परम प्रसन्न प्रणयिनी,
शीत रश्मि रेखा सी लगती सागर निकट विनयिनी ॥

नील समुद्र अंक में करती तरल तरंगिनी क्रीड़ा,
पारिजात परिरम्भित लतिका मन में रखती ब्रीड़ा।
नील गगन में क्षितिज वसुमती मिलकर अति हर्षाती,
पूर्ण चन्द्र से शरद शर्वरी मिलकर थी शर्माती ॥

मन में रही सोच ऋषि-पत्नी धन्य धन्य भव सागर,
गजब किया चातुर्य समर्पित ब्रह्मा भी अति नागर।
यदि होता संसार न आते रघुकुल केतु कहाँ फिर,
कौसलेन्द्र सरकार बँधाते दृढ़तम सेतु कहाँ फिर ॥

यदि होता न सिंधु यह आते कहाँ राम रघुकुल मणि,
किसे छिपाती हृदय मध्य सीता सुरवधू शिरोमणि।
पूर्ण ब्रह्म शिशु से होती मोदित कैसे कौसल्या,
किसकी चरण-रेणु से तरती पतिता शिला अहल्या ॥

किसके विमल गान से होती सरस्वती कृत कृत्या,
किसकी चर्चा से होती कवियों की वाणी नित्या।
कौन जटायु श्राद्ध करता कपि को भी मित्र बनाता,
कौन यहाँ निर्बल शबरी से माँ का नात निभाता॥

पर दाम्पत्य सूत्र निरपेक्षित इसकी सत्ता कैसी,
बिना शेष फण के धरणी की अस्थिर सत्ता जैसी।
शुद्ध गृहस्थाश्रम ही सचमुच मूल आश्रमों का है,
जैसे सुदृढ़ बृक्ष आश्रय फल मूल संगमों का है॥

यती ब्रह्मचारी वैखानस इसी विटप को पाकर,
छाया में विश्रान्त मुदित मन रहते श्रान्ति मिटाकर।
शुद्ध गृहस्थाश्रम कल्पद्रुम विहग तीन आश्रम हैं,
इसके फल से संजीवित छाया में खोते श्रम हैं॥

यही जन्म देता सन्यासी योगी वैरागी को,
यही प्रकट करता मारुति से हरिपद अनुरागी को।
राम केलि करते इसके ही शुद्ध प्रेम आंगन में,
श्याम बजाते वंशी इसके ही तो वृंदावन में॥

जहाँ सतत मानस गीता से गुंजित चारु सदन हो,
जहाँ पितृ वत्सल राघव माधव सा सुभग सुवन हो।
दशरथ नन्द सरिस प्रिय पति हों जहाँ पुनीत सुखप्रद,
जहाँ कौसिला जसुमति सी हो पत्नी सती प्रियंवद्॥

जहाँ भरत लक्ष्मण रिपुहन से भ्राता बंधु हितैषी,
आँजनेय से सेवक निस्पृही त्यागी स्वामि शुभैषी।
जहाँ द्रौपदी सी भगिनी हो सात्विक लज्जा शीला,
गार्गी— सी हो आर्य कन्यका जहाँ समर्चित लीला॥

अनसूया-सी पतिव्रता का जहाँ दिव्य हो संगम,
ऋषियों के वैदिक निनाद का जहाँ मधुर स्वर सरगम।
अपरिच्छिन्न ब्रह्म भी जिसके अंचल में छिप जाता,
क्षीर सिंधु को त्याग जहाँ पयहित निशिदिन ललचाता॥

पंचयज्ञ बलि वैश्वदेव की पावन जहाँ प्रतिष्ठा,
जहाँ अतिथि सत्कार हेतु स्वीकृत न देह की निष्ठा।
अन्य तृप्ति करणीय जहाँ हैं सहकर स्वीय बुभुक्षा,
जहाँ चरम पुरुषार्थ जीव का दारुण बंधु मुमुक्षा ॥

जहाँ किसी को नहीं सह्य है चीटी की भी हिंसा,
जहाँ धर्म शिरमौर्य प्रतिष्ठित मन क्रम वचन अहिंसा।
जहाँ बुझे दीपक पर भी जलता दिखता परवाना,
सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का हो जहाँ प्रतिश्रुत बाना ॥

इस महत्वशाली आश्रम से स्वर्ग श्रेष्ठतर है क्या, ?
इसकी तुलना में किंचित अपवर्ग ज्येष्ठतर है क्या ?।
यही निलय अपवर्ग स्वर्ग का यही जनक मानव का,
यही देव का तपस्थान है यही दमक दानव का ॥

रामकृष्ण का जन्म करण भी यही गृहस्थाश्रम है,
साधन का सुमनोज्ञ संस्करण यही गृहस्थाश्रम है।
स्वर्ग नरक अपवर्ग यहीं से बनते और बिगड़ते,
इस आश्रम के लोग देव दानव को नित्य झिड़कते ॥

इससे अधिक सौख्यदायक भी दुराराध्य सुरपुर क्या ?
अष्ट पदार्थ रहित त्रिदशालय इससे शान्ति प्रचुर क्या ?
शुभ कर्मों के भोग मात्र भोगते वहाँ के वासी,
पर न कभी भी हो सकते वे अग्रिम कर्म विकासी ॥

क्षीण पुण्य सब लोग घूमकर आते पुनः यहीं पर,
आवागमन अन्ततोगत्वा सब का इसी मही पर।
कर्म भूमि यह जीव मात्र की यही बनाता योगी,
सत्य, यहीं के लोग हो सके देवों के सहयोगी ॥

इस धरती के लोग नहीं यदि स्वर्ग लोक को जाते,
दनुजों के कुयंत्र से तो फिर देव नहीं बच पाते।
मानव ने ही सपदि भीठ दी देव-दनुज की खाई,
दूरी स्वर्ग और पृथ्वी की नर ने मुदित मिटाई ॥

दर्शन हित पार्थिव पुंगव के देव दौड़कर आते,
इसी लोक के चरित सुधा से मन का ताप बुझाते।
इसी लोक के पुरुष-व्याघ्र पर सुर-प्रसून थे बरसे,
एक नारी-व्रत देख यहाँ का निज कुकृत्य पर तरसे॥

यहीं जनक सुख हेतु राज्य को छोड़ पुत्र वन जाता,
यहीं चरित्र-दोष पर सुरपति पुत्र दंड भी पाता।
शीतल पद सरोज से करती अग्नि यहीं की सीता,
यहीं निरंतर गाई जाती नित गिरिधर की गीता॥

दशरथ सा सौभाग्य कहो क्या मिला किसी सुरवर को?
किसने गोद खिलाया लेकर रामभद्र रघुवर को?
पूर्ण-ब्रह्म का आनन किसने अमित बार है चूमा?
परमानन्द सुधा समुद्र में कौन मग्न हो झूमा?

इस गृहस्थ आश्रम को गर्हित कहता कौन मनीषी?
किसको बिबुध वन्द्य सुरभि भी लगती अरे खरी सी?
किस अभाग्यशाली को उज्ज्वल हिमकर दिखता पीला?
किसको भागीरथी पूरशित अरे भासता नीला?

किन्तु यहाँ ज्ञातव्य गृहस्थाश्रम की है परिभाषा,
है एकान्त चित्त से इसकी पढ़नी सादी भाषा।
इस महनीय वृन्त के पति-पत्नी ही मंजुल फल हैं,
इसी मंजरी में लसते यह दोनों तुलसी दल हैं॥

किसने कहा भोग हित सत्पति करता नारि वरण है?
किसने लिखा वासना हित पत्नी परीणयी करण है?
जगत यज्ञ में ही पत्नी पति का सहयोग निभाती,
इसीलिये संस्कृत पति से वह प्रेम अलौकिक पाती॥

पत्नी है अध्वर्यु यज्ञ का पति है उसका होता,
पत्नी मंगल गीत गायिका पति है उसका श्रोता।
पति सौरभ सुरतरु पत्नी उस पर आश्लिष्ट ब्रतति है,
पत्नी परा गिरा पूरक सुस्फोट उसी का पति है॥

विमल राम-पद भक्ति सुधारस प्याला मधुर पिलाकर,
पति होता कृतकृत्य प्रिया को रघुपति तक पहुँचा कर।
करती दूर पतन से पति को वही धर्मतः पत्नी,
जिसकी सत्ता में पति को भी नहीं अभीष्ट सपत्नी॥

मानवता से दूर राम-पद विमुख त्याज्य है भर्ता,
अनाचार रत पर कलत्र लम्पट संस्कृति संहर्ता।
भवश्रम का परिहार एक है ध्येय गृहस्थाश्रम का,
यहँ न पूर्ण यदि व्यर्थ भार वह कालकूट संभ्रम का॥

नरक गृहस्थाश्रम वह जिसमें मिल न सके श्रमहारी।
जीवन वह विडम्बना जिसमें आ न सके धनुधारी।
जीवित मृत समान वह नर जिसमें आदर्श न आया,
उसे कोटि धिक्कार जिसे निज भारतवर्ष न भाया॥

मातृभूमि पर नहीं प्रेम जिसको क्या वह प्राणी है?
गाया नहीं आर्य संस्कृति जिसने क्या वह वाणी है?
दूर देश में व्यर्थ लोग विद्या का दीप जलाते,
कामधेनु तज अर्क निकट पय के हित व्यर्थ ललाते॥

बालक मरते क्षुधा क्षीण कुत्ते हैं दूध उगलते,
मनुज ठिठुरते तुहिन मध्य पशु कनक भवन में पलते।
सती तरसती चीर हेतु कुलटा पट-भूषण सजती,
वीणा निष्प्रयोग हा हा तातों पर रागिनी बजती॥

जिसे सुधाकर समझा था वह दुर्जर गरल उगलता,
भाई भाई को मदान्ध शोषण दीवार में ढलता।
जननी बनी मृत्यु दिखती हा जनक बन गया अब यम,
आशावरी बिहाग हो गई हुआ शोक मृदु सरगम॥

अरे समाजवाद का कैसा तथ्यहीन यह नारा,
रहा अमीर अमीर अभी भी मरा गरीब बिचारा।
जनता के कदुष्ण शोणित से तर्पण शासक करता,
मृतक अस्थियों पर निर्दय पद रख स्वच्छन्द विहरता॥

हम स्वतंत्र ना, झूठ झूठ अब तक परतंत्र रहे हम,
शतियों से मदांध शासक निर्मित षड्यंत्र सहे हम ।
भौतिकता दुर्गंध हृदय से जब तक नहीं हटेगी,
पारतंत्र बेड़ी भारत की तब तक नहीं कटेगी ॥

अपर धर्म सभ्यता हमी को निश्चित खा जाएगी,
वैज्ञानिक सुविधा मानव के मूल्य मिटा जाएगी ।
अन्धानुकरण काल किसी दिन नर को खा डालेगा,
मृदु मराल मंडित मानस को कुटिल काक पालेगा ॥

वैध्य भोग स्वीकृत है पर वह भी श्रुति-धर्म नियन्त्रित,
चपला मृत्यु हेतु बनती, यदि न हो यंत्र से यंत्रित ।
उच्छृंखल जीवन भी तद्वत सार हीन इस जग में,
सदा अपेक्षित अनुशासन है राष्ट्र-धर्म मुद मग में ॥

मेरा तो श्रुति-शास्त्र-धर्ममय धन्य गृहस्थाश्रम है,
जिसे देख कर श्रान्त पथिक भी मुदित त्याग निजश्रम है ।
ब्रह्म पुत्र श्रुतियों के द्रष्टा मिले मुझे पति प्यारे,
जिनसे प्रकटे आर्य-धर्म के निर्णय मंजुल सारे ॥

ले सकते थे तपः पुंज से मेरे पति इन्द्रासन,
किन्तु अपेक्षित सदा उन्हें है कानन में दर्भासन ।
स्वर्ग-लोक से भी शत गुण आनन्द हमें कानन में,
अमरावति से कोटि गुणित सुख हमको पर्ण भवन में ॥

अष्ट सिद्धि नव निधियाँ भी मेरे पदाब्ज की चेरी,
पर निजकर गृह परिचर्या में सदा रही रुचि मेरी ।
इन्द्राणी भी कुटिया की सेवा के लिये तरसती,
पर निजकर से सकल कार्य कर मैं निज हिये हरषती ॥

मुझे अभाव नहीं है किन्चित, सुरपुर के भोगों का,
ठुकराकर मैं उन्हें समर्जित करती सुख योगों का ।
सुर-ललना के अलंकार पर मुझे न होती तृष्णा,
निज पति प्रेम विभूषण से मैं रहती सदा वितृष्णा ॥

विविध वस्तुओं का लालच मानव का धर्म नहीं है,
नित्य वस्तु परब्रह्म प्रतिष्ठा नर का कर्म यही है।
सुधापान कर देव बृंद क्या नहीं कभी भी मरते?
प्रलय काल में भी क्या वे नन्दन में मुदित विहरते? ८२॥

आवश्यकता सुरसा मुख ज्यों ज्यों बढ़ता जायेगा,
दृढ़ विवेक मारुति पर त्यों त्यों संकट ही आयेगा।
अत: अपेक्षाओं को कर सीमित कर्तव्य समीक्षित,
राष्ट्र-धर्म रक्षण मख में, मानव हो सकता दीक्षित॥ ८३॥

नहीं भेद मानते प्रकृति परमेश धनिक निर्धन का,
यह विभेद कल्पना जनित परिणाम मनुज के मन का।
महल तथा कुटीर पर रवि शशि सम निज किरण वितरते,
पवन मन्द शीतल स्पन्दन से सब का ताप प्रहरते॥ ८४॥

धनिकों की तुलना में निर्धन अधिक स्वस्थ्य होता है,
निरातंक निश्चिन्त रैन में मस्ती से सोता है।
रूखा सूखा शाक पात खा जल से प्यास बुझाकर,
सुख से रहता कानन में पत्तों की कुटी बनाकर॥ ८५॥

मेरा तेरा कह अमीर हैं श्वान मृत्यु से मरते,
श्रम से अर्जित स्वीय वित्त का नहीं भोग वे करते।
निर्धन को तो अनायास ही तरु फल मूल खिलाते,
बिना परिश्रम के गिरि निर्झर शीतल नीर पिलाते॥ ८६॥

फटे पुराने चिथड़े ही हैं निर्धन के पाटम्बर,
इनसे ही मिलने को आते भूतल पर पीताम्बर।
मित्र निषाद मान भिल्लों को सुख से गले लगाते,
वानर के चरवाह अहो शबरी के हैं फल खाते॥ ८७॥

चाहे पश्चिम उवें इन्दु-रवि, कुसुमित हो नभ-मंडल,
चाहे बरसे शैल सुधारस नील सिधु हो उज्ज्वल।
किन्तु द्रविण मदिरा मदान्ध को कभी न मिलते राघव,
वे तो दीनों के वत्सल हैं सीतापति करुणार्णव॥ ८८॥

तपोराशि पति वाम भाग में इन्द्राणी सी लसती,
निरख दयित का प्रेम आप पर मैं निज हृदय हुलसती।
होम काल में अप्रमत्त मैं पति सहयोग निभाती,
आहुति कर पावक में विधिवत परम मुदित हो जाती॥

ब्राह्मण पत्नी का इससे भी अधिक भाग्य क्या होगा ?
इससे उत्तम भर्तृ-प्रेम पूरित तड़ाग क्या होगा ?
सीमन्तिनी कौन मुझसे है अधिक आज बड़भागी,
जिसके पति हों ऋषि वशिष्ठ यम निरत स्वभाव विरागी॥

विटप वेलि सिंचन में मुझको अधिक प्रेम है आता,
मनों तनय वात्सल्य हृदय को अनुदिन है सरसाता।
वेदाध्ययन हेतु मम पति ढिग शिष्य वृन्द हैं आते,
निज औरस पुत्रों से भी मेरे मन को हैं भाते॥

श्रमित देख ब्राह्मण शिशुओं को मैं पति के ढिग जाती,
अन्य कथा मिस से उनको पाठन से विरत कराती।
खिला मधुर मोदक बटुओं को शीतल नीर पिला कर,
कर देती विश्रान्त मातृवत् अतिप्रिय वचन सुनाकर॥

औरस पुत्रों से भी प्रियतम मानस सुत होते हैं,
क्यों कि सरल निस्स्वार्थ भाव वे मातृ-भक्त होते हैं।
उनकी होती सरल भाव भाविता मनोज्ञ समर्चा,
हो जाती उनसे ही पूरण चतुर-चित्त की अर्चा॥

लख प्रमाद जब किसी शिष्य को मुनिवर डाट सुनाते,
वेद पाठ स्वर विस्मृत से वे कुछ क्रोधित हो जाते।
उनके निकट तुरत जाकर मैं कर से सिर सहलाकर,
कर देती अनुनीत उसी क्षण बातों में बहलाकर॥

मेरे जैसा सुख हे विधि ? सात्विक ललनाएँ पाएँ,
इसी भाग्य गरिमा से वे सुर वधुओं को ललचाएँ।
इसी सादगी में रह कर वे मंगल-धाम सवारें,
पातिव्रत परायणा हो धरती पर स्वर्ग उतारें॥

यों विचार रस मग्न ऋषि-वधू मन में अति हर्षानी,
पुलकित हो पति पद सरोज में अति प्रफुल्ल लिपटानी।
ऋषिवर ने विनता वनिता को कर से तुरत उठाया,
प्रणय पूर्ण लोचन प्रवाह से दयिता को नहलाया॥

आए तत्क्षण प्रेम प्रमोदित देव सहित चतुरानन,
श्वेत हंस की विमल विभा से दीप्त हो उठा कानन।
अम्बर तल से अपर चन्द्र से प्रमुदित उतर रहे वे,
वन के जड़ जंगम जीवों को मंगल वितर रहे वे॥

श्वेत हंस आसीन द्रुहिण के तनु की शोभा कैसी?
तुंग हिमाचल चारु शृंग पर किंशुक की द्युति जैसी।
विलस रहा था वाम हस्त में जल से कलिक कमंडल,
सकल सृष्टि को वे प्रदान करते हैं जिससे सम्बल॥

अब मराल विष्टर से ब्रह्मा उतरे भूतल ऊपर,
आया मनो मेदिनी तल पर पार्वण पूर्ण क्षपाकर।
तपःपूत सुत की कुटिया में धाता मुदित पधारे,
अरुन्धती मंडित वशिष्ठ को ध्यान निमग्न निहारे॥

सींच कमंडल शिशिर सलिल से ऋषि को तुरत जगाया,
चूम मुखाम्बुज अति सप्रेम सुत को निज हृदय लगाया।
अरुन्धती ने कर प्रणाम विधि का पद-कमल पखारा,
बढ़ा श्वसुर में मोद हो गया पूर्ण मनोरथ सारा॥

अब विरंचि तन पुलक मनोहर गद्गद स्वर में बोले,
वचन विनीत सारगर्भित सिद्धांत सुधारस घोले।
वत्स वशिष्ठ प्रसन्न जानकर मुझे मांग लो अब वर,
किया गृहस्थाश्रम में रहकर तप तुमने मुनि दुष्कर॥

परम सुन्दरी पत्नी के ढिग ब्रह्मचर्य व्रत पालन,
हुआ तुम्हीं से एकमात्र संभव यह दुष्कर साधन।
भोजन के अभाव में क्या उपवास कहा जाता व्रत,
इन्द्रिय शक्ति रहित को कहते ब्रह्मचर्य में अभिरत॥

अर्थ धर्म कामादि माँग लो आज मोक्ष भी हे सुत,
देने को समस्त सुख अब दम्पति हित मैं हूँ प्रस्तुत।
बोले तब ऋषिराज जोड़कर विनय सुनें हे धाता,
जगतीतल सुख सिद्धि प्रभो ? नारकी मनुज भी पाता ॥

नहीं तात ? क्षण भंगुर जग के सुख में हमें रमाओ,
रामचन्द्र मुखचंद्र सुधा दम्पति को सपदि पिलाओ।
शिव लोचन चकोर शशि मुख का नयन-चकोर करें हम,
निरख निरख कोसल किशोर को चित्त विभोर करें हम ॥

वह अदभ्र शोभा लखने को तृषित हमारे लोचन,
दम्पति पर प्रसन्न हों कैसे रघुपति राजिव लोचन।
यही हमें ईप्सित वरेण्य वर कृपा करें चतुरानन,
कुसुमित हो अविलम्ब सुरभिमय दम्पति मानस कानन ॥

तुम वशिष्ठ के वचन विधाता मन में अति हर्षाए,
पुलकित प्रेम प्रमोद मगन दृग अष्ट नीर भर आए।
धन्य-धन्य तुम हो ऋषि दम्पति परम रम्य अभिलाषा,
पूरी होगी आशु किसी दिन मंगलमय यह आशा ॥

पूर्णकाम लोकाभिराम श्रीराम सुप्रेम वशंवद,
दर्शन देगें ऋषी दम्पति को वही भक्तजन सुखप्रद।
होकर निखिल शास्त्र वेता तुमसे वे शास्त्र पढ़ेगें,
दम्पति मृदु मानस भित्ति पर श्रद्धा रत्न मढ़ेगें ॥

वे इक्ष्वाकु-वंश में अब नृप-शिशु बनकर आएँगे,
विमल चारु चरितामृत से जन-मानस सरसाएँगे।
सानुज वे सानन्द पढ़ेगे वेद शास्त्र सब तुमसे,
परब्रह्म परमेश्वर होंगे पूर्ण सुशिक्षित तुमसे ॥

करके पौरोहित्य तात ! रघुकुल की करो प्रतीक्षा,
रहो अयोध्या कानन में पूरी होगी शुभ इच्छा।
सरयू तट समीप अति पावन अवधपुरी है सुन्दर,
वहीं रहो जाकर कानन में प्रमुदित दम्पति मुनिवर ॥

यों कह शवधृति देव सहित सानन्द स्वधाम सिधाए,
पूर्ण काम मुनिवर दम्पति सब साधन के फल पाए।
हुआ पूर्ण परितोष हृदय में जागी तीव्र प्रतीक्षा,
"गिरिधर" प्रभु दर्शन की दम्पति उर में बढ़ी दिदृक्षा ॥ ९०॥

* श्री राघवः शन्तनोतु *

●

पंचम सर्ग

प्रतीक्षा

ब्रह्म वचन की ऋषि-दम्पति कर रहे समीक्षा,
बढ़ी हृदय में वेलि-सदृश प्रभु-दरश प्रतीक्षा।
फूटी व्याकुलता अनुराग युगल वर शाखा,
उदित हुई मन विशद् व्योम में ललित विशाखा ॥

थी निशीथिनी मौन शान्त सब विहग वृन्द थे,
पद्मकोश गत चिरनिद्रित नीरव मिलिन्द थे।
प्रकृति सुन्दरी करती दम्पति भाग्य प्रशंसा,
अणु - अणु से कर रही मुदित मंगलानुशंसा ॥

झिल्ली की झंकार तनिक श्रवणों में आती,
दम्पति को प्रभु-मिलन मधुर संदेश सुनाती।
स्वच्छ चाँदनी मध्य रात-रानी कुछ खिल खिल,
मुनि आश्रम कर रही सौरभित भर निज परिमल ॥

शरद चन्द्र कर दीधिति से दम्पति पद छूकर,
होता मुदित विप्र-परिकर सहकर्मी होकर।
तरुवर किसलय अन्तराल से छिटक चाँदनी,
करती नव कुंकुम से रंजित मनो मेदिनी ॥

रजनी और कुमुदिनी प्रमुदित निरख निशाकर,
नहीं वहाँ सापत्न्य प्रेम-रस ही था निर्भर।
भूमि गगन का भेद चन्द्रमा आज मिटाता,
बाँध युगल को किरण रश्मि से मधुर मिलाता ॥

मन्द मन्द पीयूष किरण मिस बरस रहा था,
दम्पति का सौभाग्य निरख ही हरष रहा था।
वातावरण शान्त था जग में छाया नीरव,
पर अम्बर अव्यक्त कर रहा था कुछ कलरव ॥

नियति नटी ही मुदित आज थी मंगल गाती,
दम्पति की खुशियों में अपनी खुशी मनाती।
शीतल मन्द सुगन्ध समीर समीरण करके
दम्पति रोम रोम में पुलकावलि भर भरके ॥

बना शकुन था मधुर सफलता करता सूचित,
वातावरण रम्य अनुकूल दिव्य समयोचित।
इधर चन्द्र ज्योत्स्ना से था पूरित यह अम्बर,
दम्पति उर नभ में समुदित प्रभु प्रेम निशाकर ॥

विकस उठी भावना कुमुदिनी अति हर्षाई,
विरति चकोरी अति प्रसन्न मन मोद बढ़ाई।
गया भाग नैराश्य तिमिर छाई नव ज्योती,
लगी लूटने मति मरालिका सद्गुण मोती ॥

मन्द समीरण से हिलता था सिर का अंचल,
अरुन्धती थी मुदित तोय भर भरित दृगंचल।
वाम पाणि से चलित शीर्ष अंचल संभालती,
दक्षिण कर से नयन पोछ मन को निभालती ॥

सत्य सत्य हमको अवश्य रघुनाथ मिलेंगे,
सत्य हमारे मन मंदिर में दीप जलेगें।
होगी क्या साकार हमारी मृदु अभिलाषा,
कब होगी रघुचंद्र सनाथित प्राची आशा ॥

यह विशाल संकल्प भाग्य पर मेरा खोटा,
गगन लम्बि फल ग्रहण हेतु ललचे नर छोटा।
मन दरिद्र शिर मौर्य तथापि मनोरथ राजा,
क्यों खद्योत चित्त में शिव शिर लोभ विराजा ॥

साधन हीन अयान एक साधारण नारी,
कैसे पूर्ण ब्रह्म दर्शन की वह अधिकारी।
कहाँ वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म सुख अगम निराला,
कहाँ बोध विक्लव विमूढ़ तापस की बाला।

शम दम ब्रत उपवास किये क्या मैने किंचित,
दर्शन हेतु प्रयास किये क्या मैने किंचित।
किन्तु, सुना है राम दीनवत्सल असुरारी,
होता उनको मान्य निरन्तर प्रेम पुजारी ॥ १८॥

पत्र पुष्प फल जल भक्तों के रुचि से पाते,
भावहीन सुर राज अमृत को भी ठुकराते।
नहीं भेद प्रतिबंध पुरुष नारी क्लीवों का,
है समान अधिकार वहाँ पर सब जीवों का ॥ १९॥

नहीं वहाँ है द्वैत ब्रह्म अद्वैत राम हैं,
निर्विकार निस्सीम निखिल निर्गुण अकाम हैं।
निराकार साकार इन्हीं के नाम अपरिमित,
भक्त प्रेम-वश वह असीम भी होते सीमित ॥ १६॥

वे स्वतंत्र पर भक्त प्रेम परतंत्र खरारी,
लेकर भी अवतार सदा रहते अविकारी।
शुद्ध प्रेम निःस्रोत उन्हें है सपदि रिझाता,
कैतव दम्भ प्रपंच नहीं है उनको भाता ॥ १९॥

जन दुर्गुण का स्मरण राम करते न कभी भी,
दूषण रिपुजन दोष ध्यान धरते न कभी भी।
सदा हृदयगत शुद्ध भावना को वे लखते,
निष्कलंक जन की वे प्रीति प्रतीति परखते ॥ २०॥

क्षमा सुता के साथ क्षमा भी उनमें लसती,
कादम्बिनी समान कृपाकर कृपा बरसती।
उन प्रभु को कब देख विलोचन सफल करुँगी,
कब ले उनको गोद चित्त में मोद भरुँगी ॥

एक भरोसा मुझे स्वभाव सरल है उनका,
कोमल चित रघुराव सुचाव तरल है उनका।
जड़ भी जिनको देख छोड़ता मौलिक जड़ता,
होता ऋजु है निगड़ छोड़कर निविड़ निगड़ता ॥ २१॥

दुराराध्य भगवान किन्तु भावों के भूखे,
धर्म धुरीण प्रवीण विषय भोगों से रूखे।
जैसे जो भजता उसको वे वैसे भजते,
भक्त-भाव अनुरूप रूप मंगलमय सजते॥

जिनका चरण सरोज ध्यान कर मुनि बड़भागी,
काल चक्र को जीत मुदित फिरते अनुरागी।
विधि निषेध से दूर भजन रस मत्त विचरते,
विहग-वृन्द की भाँति नील-अम्बर में चरते॥

उन्हें न पाता डिगा प्रकृति का भीषण विकल्व,
उन्हें न करता व्यथित विश्व का किंचित विप्लव।
शीतलता का दान उन्हें करता है रौरव,
राघव कृपा कटाक्ष उन्हें देता नित गौरव॥

भौतिकता वश मूढ़ राम को भले भूलते,
दुर्विपाक वश भोग वासना मध्य फूलते।
किन्तु अन्ततोगत्वा सब का ध्येय यही है।
राजा रंक सभी का अन्तिम श्रेय यही है॥

आस्तिक विधिवत शुद्धभाव से हरि को भजता,
नास्तिक भी निषेध कर के क्या प्रभु को तजता?
'न' पद के ही साथ वहाँ भी अस्ति जुड़ा है,
नास्ति नास्ति कह अस्ति साध्य हित नित्य अड़ा है॥

"नहीं नहीं" के साथ सदा वह "है है" कहता,
सत्ता से निरपेक्ष कहो वह कभी निबहता।
हो अभाव या भाव सदा ही अस्ति सनातन,
करता सिद्ध समत्र ब्रह्म सद्भाव पुरातन॥

उपादान सुनिमित्त रूप में ब्रह्म सभी का,
कारण एक अनीह सदाश्रय ब्रह्म सभी का।
उस सत्ता के बिना कहो कब किसकी सत्ता,
महत् ब्रह्म के बिना किसी की कहाँ महत्ता॥

वैज्ञानिक ने सिद्ध किया वास्तव संश्लेषण,
वस्तु विकृति को स्पष्ट किया करके विश्लेषण।
उसने भी अन्ततः प्रकृति सत्ता स्वीकारी,
ऐसा ही यह क्यों ? यह सुन उसकी मति हारी ॥

उस अतीत सत्ता का भी जो परम नियामक,
ईश्वर वही ब्रह्म व्यापक दोषों का शामक।
कुम्भकार के बिना कहो घट सम्भव कैसे,
स्वर्णकार निरपेक्ष विभूषण उद्भव कैसे ॥

विविध जीव संकुल विचित्र यह सृष्टि निराली,
किस अनन्त सत्ता ने इसको सहज बना ली।
रूप रंग के बिना रचे बहु रंग चितेरे,
ईश्वर की यह कला देख विस्मय मन मेरे ॥

बिना किसी कर्त्ता के जब कृमि का न समुद्भव,
कहो ईश निरपेक्ष सृष्टि कैसे है सम्भव।
बिना यत्न के जब पत्ता भी डोल न पाता,
बिना ईश के कहो जगत कैसे बन जाता ॥

निर्विवाद यह सिद्ध सृष्टि का ईश्वर कारण,
उसके बिना न क्षणभर सम्भव इसका धारण।
कण कण में वह व्याप्त भूतमय जगन्नियंता,
रोम रोम रम रहा राम जग का अधियन्ता ॥

दुर्विभाव्य दुर्लक्ष्य किए ऐश्वर्य तिरोहित,
समदर्शी अन्तर्यामी सब में सबका हित।
राम द्वेष से रहित सर्ब सुखकर समदर्शी,
घट घट में रम रहा राम करुणा रस बर्षी ॥

सलिल मध्य प्रतिबिन्दु अलक्षित विद्युत जैसे,
विश्ववास अविलक्ष्य ब्रह्म परमेश्वर वैसे।
जब तक संघर्षण से नहीं प्रकट वह होती,
तब तक नहीं लाभप्रद जल की विद्युत ज्योति ॥

वैसे भक्त भावना से जग इसे बुलाता,
तब यह राम रूप में आकर शोक मिटाता।
राम श्याम यह दोनों प्रभु के रूप निरापद,
कोटि कोटि कन्दर्प दर्प हर सेवक सुखप्रद॥ ३५॥

राम रूप में वही चंड शर चाप चढ़ाता,
श्याम सलोना बनकर वंशी मधुर बजाता।
दोनों ही हैं एक युगल को सेवक प्यारे,
भक्त - भाव वश उभय वेश लगते हैं न्यारे॥ ३६

किन्तु हमें निष्काम पूर्णतम राम इष्ट हैं,
ब्रह्म सकल भुवनाभिराम घनश्याम इष्ट हैं।
एक नारि व्रत पालक मर्यादा पुरुषोत्तम,
निखिल लोक लावण्यधाम मैथिली मनोरम॥ ३७॥

सजल नील नीरद समान मृदु श्याम मूर्ति है,
ध्यान मात्र से करती जन अभिलाष पूर्ति है।
सिर पर जिनके कंचन रत्न किरीट चमकता,
गंडस्थल मंडित कुंडल भी अधिक दमकता॥ ३८

अलिकुल निन्दनशील लटकती कुटिल अलक है,
सुरप चाप मदहरणि भाल पर ललित तिलक है।
सरसिज नवल नयन खंजन के चित्त चुराते,
करुणारस निर्भर अमृताकर कोटि लजाते॥ ३९

उन्नत मसृण कपोल चिबुक की अनुपम शोभा,
नासा ललित विलोक भक्त भावुक मन लोभा।
लसती चारु चरित्र विभा विधु आनन ऊपर,
मन्द मन्द मृदु हास सुधाकर निकर मनोहर॥ ४०

अरुण अधर के बीच दशन शित लगते कैसे,
किसलय कोरक मध्य कुन्द कुड्मल हों जैसे।
मीनकेतु कार्मुक सम भृकटि विलास मनोहर,
भावुक जन प्रणयंकर निखिल सृष्टि प्रलयंकर॥ ४१

लसित तुलसिका माल कंठ कंठीरव कंधर,
काम कलभ कर सुदृढ़ चंड भुजदंड मंजुतर ।
उर विशाल श्रीवत्स मंजु वनमाल सजाए,
रुचिर नाभि आवर्त तरणिजा नीर लजाए ॥

जनक राज तनया शिरोज शृंगार चतुरतर,
अरुण मंजु करतल मनोज्ञ शरकिण सुषमाकर ।
करज मृदुल नखचन्द्र चारु चन्द्रिका मनोहर,
मुग्ध नयन भर देख कोटि शत कोटि विषमशर ॥

कटि किंकिणी पट पीत निरख उत्प्रेक्षा ऐसी,
'मरकत गिरि पर बाल दिवाकर शोभा जैसी ।
कंज कुन्त जलजात लक्ष्म लालित्य कमल-पद,
गौतम पत्नी शाप शमन शुचि भक्त सुख प्रद ॥

सीता हृदय सरोज मध्य लालित मृदु मधुकर,
निटिल नयन मानस मराल जन त्रिविध तापहर ।
तरुण तामरस अरुण शिरिश पाटल सम सौभग,
जिनको सकृत विलोक विमल होता जन दुर्भग ॥

नील नील पंजे उज्ज्वल मंजुल नख-श्रेणी,
तलवे लाल विराज रहे ज्यों युगल त्रिवेणी ।
इस प्रयाग में भाव सहित मैं कब नहाऊँगी,
दारुण मन का ताप कदापि बुझा पाऊँगी ॥

कृपा करेगें मुझ पर कब राघव जन- वत्सल,
विकसेगा मम हिय तड़ाग में कब सुख शतदल ।
क्या अयान इस महिला पर प्रभु कृपा करेगें,
सिर पर परस सरोज पाणि क्या व्यथा हरेगें ॥

मुझमें उनके दर्शन की कुछ नहीं योग्यता,
नहीं हृदय में भक्ति विशुद्ध अनन्य भोग्यता ।
नहीं जानती जप तप पूजा आरति अर्चन,
कर पाती हा नहीं किमपि मैं अश्रु समर्चन ॥

नहीं हो सका हाय आज तक शुद्ध समर्पण,
कैसे होगा उस अपूर्व सत्ता का तर्पण।
किन्तु राम की शुद्ध प्रीति की रीति निराली,
साहस कर ले आई हूँ उसकी ही थाली॥

वलि पूजा कुछ नहीं चाहते रघुकुल नन्दन,
एक प्रेम निःस्रोत ब्रह्म का बनता चन्दन।
मुझ असहाय दीन अबला का यही एक बल,
राघव प्रेम मार्ग में शुद्ध भक्ति ही सम्बल॥

श्रुति साधन से हीन अधीन अशरणा अबला,
होऊँगी कब राम कृपा सम्बल से सबला।
कब रघुचन्द्र मुखेन्दु विलोक दुलार करुँगी,
घर ही में वात्सल्य सुधारस प्यार करुँगी॥

वे सर्वज्ञ हृदय गत भाव जानते होंगे,
गुरु पत्नी. का नाता मधुर मानते होगें।
आकर मेरे पास कहेगें मुझको माता,
दीनवंधु सुखसिंधु निभाएँगे यह नाता॥

मैं भी कहकर लाल चूम लूंगी आनन विधु,
पी लूँगी भर पेट योग दुर्लभ आनन्द मधु।
मुनि वशिष्ठ से उचित पिता ने मुझे विवाहा
इसी लोभ से मैंने भी दाम्पत्य निबाहा॥

ऋृषि के ही नाते से मुझको रघुकुल भूषण,
देगें माँ का प्रेम राम पूषण कुल पूषण।
क्या होगा वह दिवस स्वर्ण मंजुल मंगलमय,
जब अरुन्धती गोद लसेंगे शिशु बन चिन्मय॥

मैं क्या उस क्षण अपने को संभाल पाऊँगी,
प्रभु से यह सम्बन्ध मधुर निभाल पाऊँगी।
देगें मुझको शक्ति वही सत्ता संचालक,
निभवा लेगें स्वयं नाथ सेवक रुचि पालक॥

सदा राम ने सेवक की लघु भी रुचि पाली,
शबरी घर जा स्वयं बेर भी मंजुल खा ली।
नहीं भेद कुछ ऊँच नीच का उनके मन में,
रमते नित्य अखंड भाव से भावुक जन में॥

मेरे भाव तरंग सिंधु तुहिनाकर आओ,
अरुन्धती की सुख कैरव कलिका सरसाओ।
जन्म जन्म से मृदुल पलक पावड़े सजाये,
मन तंत्री पर सरस करुण रागिनी बजाये॥

शतियों से कर रही तुम्हारी तात प्रतीक्षा,
तुम करते किस हेतु हमारी प्रीति परीक्षा।
नहीं परीक्षा योग्य क्षीण साधन मैं नारी,
कौसल्या के सदृश सरल तेरी महतारी॥

दिवा रैन राजीव नयन विरहानल ज्वाला,
करती है सन्तप्त शिशिर लोचन का प्याला।
आओ आओ राम तनिक मत देर लगाओ,
माँ कह कर अविलम्ब मुझे कृत कृत्य बनाओ॥

धर्म शास्त्र सद्ग्रन्थ मृदुल हैं तुमको कहते,
मेरे बार विलोक निठुरता तुम क्यों गहते?
चन्द्र कठिन किस हेतु सूर्य कैसे हो शीतल?
क्यों हिम बरसे अग्नि उड़े क्यों नभ में भूतल?

पलक पाँवड़े स्पर्शन को तेरे अकुलाते,
श्याम रूप के दर्शन हित लोचन ललचाते।
खंजन कमल कोप में अब विश्राम चाहता,
सागर में उपरति अभिमुख सरिता प्रवाहता॥

विकल मीन तनु क्षीण मृत्यु की घड़ी गिन रहा,
अब भुजंग के लिये मरण का एक क्षण रहा।
देह त्याग हित बद्ध कल्प व्याकुल यह कोकी,
दिनकर कुल दिनमणे ! इसे अब करो विशोकी॥

पीने को अंगार समुत्सुक चतुर चकोरी,
रघुकुल कैरव कुमुद सुधा से करो विभोरी।
गगन चाहता आज क्षितिज से शुभ आलिंगन,
बल्ली को है ईप्सित सुरभूरुह आलम्बन ॥

आओ आओ अरे देर करते क्यों प्यारे,
जगमग कर दो हृदय गगन को समुदित तारे।
तेरे बिना न होगी करुणा गाथा पूरी,
तेरे बिना न होगी कुछ भी कम यह दूरी ॥

रहे अधूरा क्यों यह मेरा सुमधुर सपना,
करो शीघ्र साकार लाल मम मधुर कल्पना।
मन मानस मरुथल में नवरस कंज खिला दो,
उर अन्तर में विमल भक्ति का दीप जला दो ॥

नहीं तुम्हें मैं कभी राजसुत रुष्ट करुँगी,
निज वात्सल्य सुधारस से संतुष्ट करुँगी।
शास्त्रजन्य संताप परिश्रम सकल हरुँगी,
कौसल्या के सदृश पुत्रवत् प्यार करुँगी ॥

विमल ज्ञान आगार विशुद्ध प्रकाश प्रकाशक,
मुनि आनन्द पंकरुह कानन मधुर विकाशक।
शुष्क वनस्पति वृन्द देख कुछ तो तरसाओ,
शीत रश्मि रेखा सी निज करुणा सरसाओ ॥

मोह निबिड़ अज्ञान नीरधर पटल प्रभंजन,
आओ अब अविलम्ब राम सेवक मन रंजन।
रिक्त सरोरुह कोष मधुप को झटित छिपा लूँ,
यामिनि भर आनन्द मोद आमोद मना लूँ ॥

दशम दशा आसन्न करो मत किंचित देरी,
आओ आओ लऊँ बलैया लालन तेरी।
लोचन चातक की जलधर अब प्यास बुझाओ,
अरुन्धती प्राणावरोध को सफल बनाओ ॥

सकल लोक नयनाभिराम नव नलिन विलोचन,
दर्शन दो हे राम ! कोटि मन्मथ मद- मोचन।
"गिरिधर" प्रभु पद-पद्म प्रेम रस निर्भर भामिनि,
प्रणय प्रतीक्षा निरत बिता दी क्षण में यामिनि ॥

* श्री राघवः शन्तनोतु *

●

अनुनय

पति के अनुनय को ठुकराकर कुपिता पति प्रणय अनूठी सी,
छिप गई निशा अम्बर-पट में भामिनी भामिनी रूठी सी।
उसकी विधिकरी कुमुदिनी भी सखि का सहचार निभाती सी,
कुछ सिहर गई आन्दोलित हो अंचल में वदन छिपाती सी॥

उस ओर पद्मिनी योशा का मधुमय सौभाग्य समय आया,
प्रेयसी दयित के संगम का लोचन अभिराम प्रणय आया।
दिनकर के प्रत्यागमन पूर्व तम दूर गया सब क्षण भर में,
निद्रा तज प्रमुदित विहग-वृन्द गा उठे मधुर सरगम स्वर में॥

मृदु मंजुल मलय समीरण से चल दल के किसलय डोल रहे,
कल कंठ कंठ से निष्प्रमत्त दिशि दिशि में मधुरस घोल रहे।
था वातावरण प्रसन्न आज सुन्दरी प्रकृति मुस्काती थी,
दिनकर के स्वागत हेतु उषा सुमनों के थाल सजाती थी॥

जड़ जंगम थे सतर्क जाग्रत पावन प्रभात की थी वेला,
अम्बर के नीले अंचल में धृत धवल वस्त्र नव शिशु खेला।
प्राची ने उसका बदन चारु अज्ञात प्रेम से चूम लिया,
फिर नव कुंकुम के रंगों से उसका मंगल शृंगार किया॥

वह अरुण वर्ण सुन्दर बालक जड़ जंगम को हर्षाता था,
प्राची की गोद थिरकता वह शोभा अपूर्व ही पाता था।
तब तक तेजोमय पुरुष एक पीले पराग का लेप किये,
चढ़ कनक ज्योतिमय स्यन्दन पर आया शिशु पास हुलास लिए॥

अवलोक सलोने बालक को उस नर ने सुख से उठा लिया,
झट से आवृत कर वसनों में निज उर में उसको छिपा लिया।
किसलय का अंचल डोल रहा खगकुल भी कल-कल बोल रहा,
तरु गुप्त मर्म को खोल रहा जन मन था आनन्द घोल रहा॥

मारुत के मन्द झकोरों से कर रही लता तरु-परिरम्भण,
नव परिणीता प्रणयिनी मनो कर रही प्रणय का आरम्भण।
उपहार दे रही थी बसुधा नव-मौक्ति हार विभाकर को,
वह था समेटता हो सतर्क भावना निमग्न बढ़ा कर को॥

मुनिजन पावन सर-सरि तट पर शुचि संध्या वन्दन थे करते,
परमेश्वर का कर दिव्य-ध्यान आनन्द उदधि में थे तरते।
उत्तान वाहु पढ़ वेद मंत्र दे अर्ध्य सूर्य का उपस्थान,
करते वे अंगन्यास पूर्वक मुद्रा गायत्री जप-विधान॥

गायत्री जप से ऋषियों के हिलते थे कुछ कुछ अधर किसल,
मानो था मौन तपस्यारत अति सावधान विनियोग कुशल।
रुद्राक्ष दिव्य तुलसीमाला लसती मुनिवर कर-पलल्व में,
अविराम चल रहा अजपाजप श्रुतियों का मानस अभिनव में॥

सस्वर श्रुतिपाठ कुशल बटुगण मुनियों की सेवा में रत थे,
तेजोमय ब्रह्मचर्य मंडित तनु तरुण विग्रही मुनिव्रत थे।
कटि लसित मेखला मौञ्जी की भस्मार्चितआयत थे ललाट,
मुनि सेवा मनो स्वयं करता नाना तनु धर धर कर विराट॥

कौपीन वीत उपवीत पीत काँखों में लिये पलास दंड,
सिर जटाजूट तन तपःपूत कूटस्थ समर्पित मन अखंड।
ज्योतिर्मय वदन चमकता था दाड़िम से सुन्दर श्वेत दशन,
पाटल समान निर्दोष अरुण आकर्षक पावन दशन वसन॥

उन्नत कपोल पर थिरक रही नव-यौवन की पावन लाली,
कुछ अरुण तरुण दृग के अपांग लसते ले शोभा की प्याली।
उनके अदोष सौन्दर्य कोष नयनों में स्नेह सिहरता था,
श्रुतियों का माला जटा पाठ जन जन में मंगल भरता था॥

थी विलस रही मुख मंडल पर ब्राह्मव्रत की अविचल रेखा,
चान्द्रायणादि व्रत निष्ठा की थी झलक रही निर्मल रेखा।
लेखाधीशों के भी प्रणम्य ब्राह्मण-वटु शोभा पाते थे,
निज उग्र तपस्या संयम से भूतल को स्वर्ग बनाते थे॥

उनकी पद-पद्म पादुका से बसुमती प्रमोदित होती थी,
सुन मंगलमय श्रुतिपाठ मधुर संताप पाप सब खोती थी।
बटुओं की चरण-रेणुका से वामन की सुस्मृति कर कर के,
तरु मिस होती थी पुलक-पूर्ण निर्झर लोचन में जल भर के ॥

कानन था निचित निलीन किसी अज्ञात सौख्य के सागर में,
बह रहा अतर्कित गति से था आध्यात्मिक ज्ञान सरोवर में।
परमात्म-प्रेम नव सरसिज के कानन सुरभित था परिमल से,
हो रहा प्रफुल्लित निराबाध मानस में संयम शतदल से ॥

मुनि कन्याएँ नीलोत्पल को सोल्लास बनाकर कर्णपूर,
थी विपिन प्रान्त में सुखा रही नीवार उटज के दूर दूर।
भव मरु मरीचिका भी जिनके मन को न कभी मुरझा पाई,
वासना भुजंगिनी भी जिनके तन को न कभी कुंभला पाई ॥

सपने में हो न सका जिनका मालिनी प्रकृति से कल सिंचन,
जिनको न हुआ अनुभूत कभी मधु प्रणय गीत नूपुर सिंजन।
निष्कलुष मान्य सामान्य वेश चरणों तक मेचक मुक्त केश,
अवलोक जिन्हें सहसा सुरेश नत होता तजकर दोष लेश ॥

जिनके अधरों पर निर्विकार शशिकर-सा शीतल मन्द हास,
अकलंक शंक आतंक रहित जिनका निसर्ग शुचिभ्रू विलास।
अज्ञात भोग साधती योग निष्कल निरोग विगलित वियोग,
कानन में भरती पवित्रता मनुजता विमल संयम सुयोग ॥

अतरंग सिन्धु-सा उर गंभीर शुचि ब्रह्मचर्य भावित शरीर,
पहने वन-तापस वल्क चीर थी विवुध वंद्य मुनिसुता धीर।
थी भारतीय शुचि संस्कृति की चेतनामयी मंगल प्रतिमा,
रखती थी तापस कन्याएँ सत्कृति चरित्र पावन गरिमा ॥

तरुओं को सुख से सींच सींच वाटिका मनोज्ञ सजाती थी,
मृग शिशुओं को श्यामाक अन्न मुट्ठी भर मुदित खिलाती थी।
प्रत्यूष यूष पीयूष तरल मेदिनी झूमती थी सुख से,
फलभार नम्र तरु शाखाएँ वसुमती चूमती थी सुख से ॥

इस प्रकृति रम्य नव कानन में पावन वशिष्ठ का था कुटीर,
जिसमें करते थे वेद पाठ सानन्द सारिका चतुर कीर।
तुलसी तरु शोभा पाते थे मुनिवर आश्रम के आस पास,
निर्वैर भाव से चरते थे खग-मृग आश्रम में विगत त्रास॥

सिंहिनी गोद में बैठ मुदित गो सुत आनन्द मनाते थे,
वात्सल्य भाव से गउओं के हरि-शावक पय पी जाते थे।
विकलांग तापसों को बन्दर कर पकड़ राह दिखलाते थे,
विठला पीठों पर करि शावक उनको नहला ले आते थे॥

निद्रित हरि को सोल्लास हरिण निज सींगों से सहलाते थे,
चीते शशकों से खेल खेल अपने मन को बहलाते थे।
श्वानों से भी मार्जार-सुता भगिनी की ममता पाती थी,
मूषक को बन्धु मान प्रमुदित वह मंगल-गीत सुनाती थी॥

लगता न कभी था दावानल बन हरा भरा नित रहता था,
सर्वत्र विपिन के झरनों में अविराम प्रेम-रस बहता था।
विषधर अहि मणि के रुचिर हार न्योलों को पहना जाते थे,
उनके अंगों में लिपट लिपट औरस का प्रेम निभाते थे॥

था परम शान्त मुनिवर आश्रम वन में हिंसा का नाम न था,
सर्वत्र लहरता विमल प्रेम मद मत्सर कैतव काम न था।
अवलोक व्यक्तिक्रम मंत्रों में रोकती सारिकाएँ तत्क्षण,
करते वटुओं से थे तोते शास्त्रार्थ प्रबुद्ध विपक्षी बन॥

श्रुतिओं के पाठ व्यतिक्रम को सारिका नही सह पाती थी,
"कथमुक्तमशुद्धं त्वया वटो" कह कह वो शोर मचाती थी।
"हो विप्र पुत्र करते प्रमाद" तुम तनिक नहीं शर्माते हो,
श्रुति पाठों को आलस्यवशात् तुम यों विस्मृत कर जाते हो॥

तुम खेल ख़ेल में मत्त अरे! यह जीवन व्यर्थ गवाँ बैठे,
निद्रा प्रमाद के परवश हो तुम स्वर्णिम समय बिता बैठे।
ब्राह्मण कुल में अवतार लिया इतने से चलता काम कहीं,
बस नींव मात्र खुदवाने से बनता है स्वर्णिम धाम कहीं॥

तुम सावधान दे कान सुनो रक्षी भी तेरा भक्षी है,
कर्त्तव्य मार्ग पर डट जाओ पक्षी भी बना विपक्षी है।
बस जगो सिंह शावक प्रवीर ! यह काल नहीं है सोने का,
कर ओंकार हुंकार उठो अब काल नहीं है खोने का॥

ओ तरुण तरुण दिनकरसहसा जग को तुम ज्योतिष्मान करो,
निज सत्य सनातन धर्मव्रती जय भारत का आह्वान करो।
जो अश्वमेध आदिक मख के यूपों से मंडित बसुंधरा,
उस पर ही आततायियों ने अपना कैतवमय चरण धरा॥

ओ सर्पराज ! अवलोक जरा तेरी क्या हुई बुद्धि भोरी,
ए छद्म वधिक कर रहे हाय तेरी वर्णाश्रम मणि चोरी।
ओ कलभ ! निरापद विपिन नहीं तेरे नाशक हैं यंत्र सभी,
गड्ढे हैं ढके खने बहुश: तुम क्यों स्वतंत्र परतंत्र अभी॥

ओ सरल हरिण ! वीणा निनाद तेरा समूलत: घातक है,
यह मरु मरीचिका सहज सौख्य तेरी सत्ता का पातक है।
ब्राह्मण अवध्य सुर शास्त्रों का पर पतित हुआ निज कर्मों से,
मर रहा हाय ! श्रुति वर्ण- हीन हो रहित सुकोमल चर्मों से॥

श्रुति वर्म हीन विग्रह तेरा आचरण प्रखर तर ढाल नहीं,
संयम शर बुद्धि चाप वर्जित हा ब्रह्मचर्य करवाल नहीं।
आलस्य दोष से कोष भरे कौषेय वसन कर सकते क्या ?
इस मृत्यु सिंहनी से द्विजवर हा तुम कदापि बच सकते क्या ?

हो सावधान निज कर्म निरत वैदिक बल से निर्भीक बनो,
निज धर्मनिष्ठ राष्ट्रीय शक्ति ले अजय विसृष्ट व्यलीक बनो।
म्रियमाण मनुजता का तुमको करना है अब जीवनोद्धार,
हो जाओ सजग देश प्रहरी ! हो सावधान ब्राह्मण कुमार॥

जब तक वैदिक मंगल ध्वनि से हो रहा नहीं भारत भासुर,
तब तक इसमें पल रहे दम्भ पाखंड पाप के विहग प्रचुर।
भारत को कतिपय सारमेय कर रहे मलिन कलुषित सारे,
ओ सिंह ! न गंफलत में आओ निष्फल हैं सब इनके नारे॥

इस भाँति सारिकाएँ भी थीं मंगलमय उद्बोधन करतीं,
पावन प्रभात की वेला में श्रुति ध्वनि से कानन को भरतीं।
द्विज बालक श्रुति का पाठ सदा दे ध्यान सशंकित करते थे,
आचार्य चरण की सेवा कर वन में सोल्लास विहरते थे॥

अब अरुन्धती उठ निष्प्रमत्त कर पुण्य सलिल सरि में मज्जन,
दे अर्घ्य भुवन भास्कर को वह कर रही शुद्ध श्रद्धा सर्जन।
भर सलिल कलश में स्तोत्र पाठ करती मन में अति हर्षाई,
अविलम्ब दिव्य मुनिवर पत्नी आचार्य चरण सम्मुख आई॥

संवृत मुनिचरण सरोज हुए तत्क्षण दयिता के अंचल से,
अब अरुन्धती के छलक पड़े श्रद्धा के नीर दृगंचल से।
ऋषि पत्नी का सीमन्त लसित सिन्दूर विप्र के पाद पद्म,
करता था अधिक अरुण पाटल शृंगार सार सर्वस्व सद्म॥

जप निरत वशिष्ठ देव ने लख प्रिय पत्नी को करती प्रणाम,
बिठलाया वाम भाग में दे संकेत वाम कर से अकाम।
पति वाम भाग में विलस रही हवनार्थ सुशीला अरुन्धती,
मानो स्फुलिंग माली समीप लसती स्वाहा गुणशीलवती॥

देवी ने विनत भाव से फिर पति-पाद सरोरुह सलिल लिया,
तदनन्तर लोचन भाजन से प्रियतम आनन विधु सुधा पिया।
कर हवन कार्य विधिवत समाप्त पाकर पति का मंगल निदेश,
अभ्यागत सेवा हित देवी आई गृह में धृत बन निवेश॥

इस भाँति प्रतीक्षा राघव की पति संग सती करती रहती,
रह कानन में चतुरानन की वह पुत्र-वधू संकट सहती।
देवी के हृदय अवनिथल में प्रभु भक्ति वेलि जैसी विलसी,
तुलसी मंजरी-सी राम प्रेम भावना मनोवन में हुलसी॥

ऋषि दम्पति के जीवन मधु में आ ढहा ग्रीष्म दुस्सह कराल,
अब हुआ उपस्थित संकट की घड़ियों से कल्पित क्रूर काल।
क्या है यह विधि की विडम्बना भव काल चक्र चलता कैसा?
जीवन गुलाब के पुष्प सदृश काँटों में ही पलता कैसा॥

माली उसको कितने श्रम से सींचता सलिल के सीकर से,
पर निर्दय उसे तोड़ लेता अपने दारुण कराल कर से।
उसके सुन्दर कोमल दल में सूई से ताग पिरोता है,
माला निर्मित कर हा उसकी मन में वह प्रमुदित होता है॥

क्या प्रकृति सिद्ध सुन्दरता को मानव देता उपहार यही?
क्या कोमलता के लिये उचित पवि का भीषण शृंगार यही?
क्या सुरभिक्षीर का फेन मृदुल पवि का टाँका सह सकता है?
क्षीरोदधि का कलहंस कहो क्षारोदधि में रह सकता है?

निर्बलता का निर्दयता से कैसे होता यह दुरुपयोग,
हा कमल कोष का करा दिया मानव ने करि कर से प्रयोग!
शाश्वत स्वभाव यह जीवों का निर्बल को सबल सताते हैं,
वे प्रतिक्रिया में हो अक्षम आँसू पीकर रह जाते हैं॥

मृगया हित विश्वामित्र नृपति कानन में आए एक बार,
मुनिवर वशिष्ठ ने किया दिव्य नरपति का अनुपम अतिथिकार।
निज कामधेनु साधन बल से नृप की करके आतिथ्य क्रिया,
मन में कृत कृत्य हो रहे थे मुनिवर्य प्रेमवश सहित प्रिया॥

कर कुशल प्रश्न सानन्द दिया नरपति को ऋषि ने दर्भासन,
प्रश्रय नतकंधर भूमिपाल बैठे सुनि मुनि का अनुशासन।
देखा अपलक नयनों से जब चतुरस्र शुभाश्रम की शोभा,
बढ़ गया कुतूहल मानस में एक टक नयनांचल पट लोभा॥

क्या दिव्य भव्य आभा वन की यह धन्य धन्य आश्रम निकुंज,
अविराम चतुर्दिक थिरक रहा ऋषि दम्पति का शुचि तपः पुंज।
अविरत शास्त्रों का पठन तथा श्रुतियों का सस्वर शुभ-वाचन,
अभिराम नयन कर्णों को भी भूसुरगण का पुण्याहवाचन॥

उद्गीथ जटा माला क्रम से वैदिक मंत्रों का संरक्षण,
है उमड़ रहा इस कानन में धृत विग्रह सात्विक सुख क्षण क्षण।
शत कोटि बाजि गज स्यन्दन धन है व्यर्थ राजसी सुख सारा,
यह धन्य धन्य ब्राह्मण कुल का सच्चिदानन्दमय सुख न्यारा॥

क्या तुलना में है सुधा भला इन मधुर कन्द फल मूलों की ?
अमरावति का भी सुख नगण्य तुलना में सुस्मित फूलों की।
सुर ललनाएँ भी अरुन्धती के सुख पर ईर्षा करती हैं,
अवलोक तापसी की सत्ता सतियाँ भी मन में डरती हैं ॥

ऋषि- पत्नी मधुर वचन कह कह मुनि को नैवेद्य कराती है,
अनुराग राग सौभाग्य भरी अंचल से व्यजन डुलाती है।
है यही गृहस्थाश्रम अविरल वस्तुतः यही दाम्पत्य सत्य,
जिसके अंतर में थिरक रहा सम्बंध निबंधन ब्रह्म नित्य ॥

क्या पति पत्नी का मिलन क्रूर कामना केलि का तर्पण है,
क्या यह मंगलमय ग्रन्थि बन्ध मन्मथ का निम्न समर्पण है।
सच पूछो तो दाम्पत्य दिव्य परमेश्वर का है आराधन,
मनु दम्पति के हित सिद्ध हुआ जो राम-जन्म का शुभ साधन ॥

जब तक न ज्ञात होगी नर को इस रस रहस्य की परिभाषा,
तब तक न सकेगी कर भावित ईश्वर को भी उसकी भाषा।
संकल्प शुद्धि के लिये दिव्य पत्नी है मन्दिर अति पावन,
जिसमें पति रूपी परमेश्वर संतत पूजित होता भावन ॥

गृहिणी के बिना न चल सकता अभिराम अकाम गृहस्थाश्रम,
पत्नी ही सफल सदा करती पति का अमोघ तीर्थाटन श्रम।
आत्मा शरीर की भाँति युगल हैं एक दूसरे से अभिन्न,
यह अनिर्वाच्य अद्वैत अहो रहता सदैव ही अविछिन्न ॥

इस शाश्वत सत्य प्रेम की क्या होती है परिणति विनिमय में,
क्या नेह कभी भी निभ सकता है चाटुकार के अभिनय में।
इस तरु परिरम्भित लतिका का है विमल प्रेम ही आल वाल,
सेचन जिसका सुस्नेह सलिल हरि-भक्ति मनोहर फल रसाल ॥

देखो ऋषि- पत्नी सेवा की कैसी विचित्र है परिभाषा,
जिसकी केवल उनके पति ही अवगत कर पाते हैं भाषा।
इंगित पर दारुयोषिता सी अविराम अनुसरण करती है,
ला समिध कुशा सत्वरगति से मुनिमन में आनन्द भरती है ॥

विधि ने विचार कर के विरचा इनका यह पावन सम्प्रयोग,
जिसमें न कभी सम्भावित है मन में भी दम्पति विप्रयोग।
पर साथ साथ सात्विकता के आया कैसे राजस वैभव,
इस तपः पूर्ण तृणशाला में छाया कैसे यह सुख अभिनव॥ ७६॥

क्या यहाँ आज निष्पन्न हुआ मृदु भोग योग का संगम है,
उत्पन्न कहाँ से यहाँ राग वैराग्य स्वरों का सरगम है।
एकत्र सत्व गुण सुभग छटा अपरत्व रजोगुण का विहार,
निर्वैर यहाँ कैसे रहते युग पद कठोरता औ श्रृंगार॥ ७७॥

यह दीन तपस्वी कर सकता कैसे इतना अद्भुत स्वागत,
क्या चमत्कार इनका किंचित अथवा विशुद्ध है आत्मब्रत।
ऋषि से ही जिज्ञासा करके कर लूँ रहस्य का उद्घाटन,
हो जाय अंज सा महा मोह दुर्घट पादप का उत्पाटन॥ ७८॥

कर जोड़ गाधि सुत ने पूछा ऋषि से लज्जा अवनत होकर,
वैभव कौतूहल उत्कंठित साम्राज्य तीव्रतर मद खोकर।
मुनिराज ! आप इस कानन में स्वीकृत कर निष्किंचना वृत्ति,
पत्नी सह करते तपश्चरण करके सनाथ सात्विक प्रवृति॥ ७९॥

हे आर्य ! कहें करुणा करके इस वन में यह कैसी समृद्धि,
निर्जन में आई किस प्रकार यह राजोचित निरुपमा रिद्धि।
जो सुख न स्वप्न में देवों को उपलब्ध कदाचित भी भगवन,
मुझको कर दिया सुलभ क्षण में भवदीय तपोबल ने श्रीमन्॥ ८०॥

प्रासाद हुआ विस्मृत मेरा अवलोक ब्रह्मसुत का प्रसाद,
अवलोक आपकी अतिथि क्रिया अवसन्न हुआ मृग्यावसाद्।
यह अर्घ्य पाद्य आचमन देव ! छप्पन प्रकार के राजभोग,
पर्यंक शिरिष मृदु कुसुमावृत नन्दन सा मधुमय मधुर योग॥ ८१॥

किस तपबल से यह सामग्री ऋषिवर्य ! आपको प्राप्त हुई,
जिसमें मेरी नृपपद लिप्सा क्षण भर में आज समाप्त हुई।
वस्तुतः धन्य है तपस्तेज वर्चस्व धन्य है भूसुर का,
है तुच्छ अहो इसके समक्ष संचित समस्त सुख सुर-पुर का॥ ८२॥

ऋषिवर ने सुन वर वचन दिया उत्तर नरेन्द्र को कुछ हँस कर,
तन पुलक सजल लोचन मानो संकोच पंक में कुछ धँस कर।
मुखड़ा था सहज भाव मंडित अधरों पर मंजुल हास्य लिये,
विन्यस्त हस्त उरु युगल ललित नयनों से सात्विक लास्य किये ॥

उस समय आर्य आभा समग्र सिमटी थी मंजु कपोलों पर,
रोलम्ब वृंद ईशत् सलज्ज हो रहा सुकुन्तल लोलों पर।
तुम सत्य कह रहे गाधितनय जिनको जग से कुछ स्वार्थ नहीं,
है सुलभ सिद्धि सारी उनको करतल हैं चार पदार्थ वहीं ॥

कर हस्तामलक भोग तप से निर्लिप्त सदा हम रहते हैं,
सब कुछ पाकर भी निर्विकार सम बुद्धि द्वन्द्व सब सहते हैं।
सुविधाओं का जो अपने हित उपयोग निरन्तर करते हैं।
राक्षस संस्कृति के पोषक वे भवनिधि न कदाचित् तरते हैं ॥

एक ही विधाता ने विरचा इस दृश्यमान सचराचर को,
राक्षस मानव दानव सुरत्व रंजित विशाल रत्नाकर को।
निज भेद बुद्धि गत जन्य नये ये भिन्न - भिन्न भासते चित्र,
वस्तुत: दृष्टि गत दोषों से यह सृष्टि दूषिता है विचित्र ॥

यदि शुद्ध सच्चिदानन्द कन्द परमेश्वर निष्कल निर्विकार,
लो क्यों उसकी यह सृष्टि अरे दिखती है विलसित बहु विकार।
यह कैसा अद्भुत नाटक है मिथ्या दिखता सत्कार्य वाद,
आनन्द कन्द के सर्जन में क्यों भास रहा हा यह विषाद ॥

इन सब विपत्तियों का निदान है बुद्धि भेद संभव विक्लव,
इससे प्रसूत कर रहा नृत्य संसार मध्य भीषण विप्लव।
मेरे विचार से संस्कृतियों का मुख्य मूल आत्म प्रवृति,
जिससे अनेकधा पनप रही तलत संस्कृति की क्रूर वृत्ति ॥

जब मननशील परहित में रत पुरुषार्थ समन्वित करुणार्णव,
होता यह जीव तभी कहते सब लोक इसे सुन्दर मानव।
वैदिक संस्कृति के अंचल में मानवता शोभा पाती है,
वात्सल्य सुधा उसकी पीकर सुरता को भी ललचाती है ॥

जो तृप्त नहीं हैं भोगों से अपने प्रवाह में बहते हैं
वर्णाश्रम हीन विचार रहित दानव उनको ही कहते हैं।
उनको स्वभाव गत प्राप्त सदा निर्दोषों का उत्कट पीड़न,
आतंकवाद की विभीषिका उनका ही करती उत्पीड़न॥

"रक्षति स्वार्थम् यः सः राक्षसः" यह राक्षस पद की है व्याख्या,
निज सुख हित अर्जन करना ही है राक्षस मानव की आख्या।
इन आत्मवृत्तियों के कारण मानव ही तो दानव होकर,
करता परपीड़न उद्धत बन साक्षर ही होकर राक्षस नर॥

साक्षर का है विलोम राक्षस यह परिभाषा वैचारिक है,
इसलिये मिटाना है इसको यह भेद सदा वैकारिक है।
इन भेद जन्य खल धर्मों को जब तक मानव न मिटायेगा,
तब तक न निरापद होकर वह सुख शान्ति कभी भी पायेगा॥

जितने से हो शरीर धारण उतना ही स्वत्व मनुज का है,
अधिकापेक्षा ही खल लिप्सा क्रूरता कृतित्व दनुज का है।
इन भेद खाइयों को अब तो अपने विवेक से पाट पाट,
पृथ्वी पर स्वर्ग हमें लाना सारे काँटों को काट काट॥

हे राजपुत्र ! हम सच कहते हमको न स्वर्ग में जाना है,
इस आर्य भूमि पर ही अब तो स्वर्गीय सुखों को लाना है।
स्वर्गापवर्ग सोपान यही प्रिय भारतवर्ष हमारा है,
निज स्वत्व विसर्जन परहितार्थ मंगल आदर्श हमारा है॥

इन व्यापक भावों को अब तो हम मनोभूमि पे लायेंगे,
अवलोक हमारी मानवता सुरगण हमपे ललचायेंगे।
करके समक्ष सिद्धियाँ तात आमलक समान सदा करतल,
हमने न प्रदर्शित किया कभी निज सुख हितार्थ उनका यह बल॥

हो सर्ब समर्थ भूलकर भी सामर्थ्य भान हममें न हुआ,
पाकर सुरगुरु की भी गरिमा गुरुताभिमान हममें न हुआ।
मानव की सभी अपेक्षाएँ सम्पन्न प्रकृति ही करती है,
फिर भी नरलिप्सा निराधार संकल्प विकृति से भरती है॥

है कोटि कोटि सुर सदनों से सुख-प्रद वन निर्मित पर्ण ओक,
वस्तुतः थिरकता मेरे इस आश्रम में सन्तत स्वर्ग लोक।
मेरी अरुन्धती की पूजा सुर ललनायें कर जाती हैं,
पाकर उसकी पद- कमल-रेणु अविचल सीमन्त बनाती हैं॥

यह कामधेनु सब इच्छायें पूरी करती हो वशम्वदा,
देती मनवांछित सर्बकाल आवश्यक सुख सम्पदा सदा॥
पर हम निज हित इसका न कभी उपयोग भूल कर करते हैं,
तुम जैसे राजसुतों के ही इसके बल से मन हरते हैं॥

जैसे वैदिक सत्कर्मों में ऊर्जा सहचरी हमारी है,
वैसे ही सुरभी पुत्री सी हमको प्राणों से प्यारी है।
गोबर जिसका वरदान तथा निःस्यन्द पुण्य नर्मदा नीर,
जिसका पय पावन गंगा जल पी पी होता निर्मल शरीर॥

मम अग्निहोत्र हित जागरूक पयदान निरन्तर करती है,
तुमसे भूपों के स्वागतार्थ आश्रम मंगल से भरती है।
बस इतने में ज्ञातव्य तुम्हें हो मेरा स्वागत चमत्कार,
वस्तुतः न हम इसमें सचेष्ट करते निज प्रभु को नमस्कार॥

जो चमत्कार दिखला करके जग का नित वंचन करते हैं,
वे नर पिशाच हैं सन्त नहीं भवनिधि न कभी वे तरते हैं।
क्या सांसारिक सुविधाओं से है गेय सन्त की परिभाषा?
उसकी हरि भक्ति प्रवणता ही मूकास्वादनवत् सी भाषा॥

जिनका दर्शन परमेश्वर की सुस्मृति का पावन साधन है,
वस्तुतः सन्त उनको कहते प्रभु प्रेम मात्र जिनका धन है।
जिनकी पद-पंकज नख ज्योति भीषण निशीथिनी को हरती,
है सन्त वही जिनकी वाणी मन में प्रभु-प्रेम सुधा भरती॥

हम पूर्णकाम सर्वदा तात बनते न कभी भी भोगी हैं,
तुम जैसे भोगलिप्सुओं को करते क्षण भर में योगी हैं।
बस कामधेनु का कृपा कोर पाथेय बनाते राज्यपाल,
इतने में यह रहस्य समझो अवलोक तुम्हें हम हैं निहाल॥

इतना ही कहकर द्रुहिणतनय बस एक निमिष तक मौन रहे,
हो गया कंटकित तरु शरीर नव नलिन नयन से नीर बहे।
भावी वश गाधितनय का मन अब कामधेनु हित मचल गया,
लिप्सा पिशाचिनी से उनका कुछ धैर्य कूट भी विचल गया ॥

मानव की कुप्रवृतियाँ ही प्रस्तुत करती हैं महोत्पात,
उच्छृंखल इच्छाओं से ही होता अनर्थ का सूत्रपात।
अनियंत्रित भोग वासना ही शैतान बनाती मानव को,
यह श्री मदान्धता ही सृजती पल भर में उद्धत दानव को ॥

दुर्दान्त इन्द्रियों का समूह नर को पिशाच कर देता है,
आशा सुरसा का मुख संयम मारुति को भी ग्रस लेता है।
जो हो न सका पल भर को भी इस मुद्रा राक्षस का शिकार,
वह ही कर सका सफल जग में रह कर भी प्रभु को नमस्कार ॥

मेरे विचार से यह इच्छा डाइन ही सर्वानर्थ मूल,
इसने ही प्रकट किये सारे इस हृदय फूल में अमित शूल।
वस्तुतः गाधिसुत जीवन में क्या किसी वस्तु का है अभाव,
पर रोक न पाये वे भी तो इस वैतरणी का कटु प्रभाव ॥

इस कामधेनु की लिप्सा ने नरपति को पागल बना दिया,
तृष्णा तरंगिणी ने पल में नृप धर्म सेतु को भग्न किया।
संकल्प विकल्पों के अब तो उठते सहस्र आवर्त वृन्द,
दुर्गम मनोरथों के करते कल्लोल केलि कलकल अमन्द ॥

किस भाँति मिले यह कामधेनु नरपाल विचार लगे करने,
निज हृदय कलश को नृपमद से तत्काल अपार लगे भरने।
दे द्रव्य प्रलोभन भूसुर को यह कामधेनु ले जाऊँगा,
इससे मन ईप्सित भोग भोग जीवन को सफल बनाऊँगा ॥

वस्तुतः कामनातुर का मन चल-दल सा अस्थिर होता है,
जो इतस्ततः हिलता डुलता सुख से न कभी भी सोता है।
वह सारमेय सा उच्छृंखल उच्छिष्ट पत्र के लेहन को,
है समझ रहा निज चरम लक्ष्य धिक्कार कोटि इस खल मन को ॥

अब रोक न पाये गाधितनय सहसा उनका मन मचल पड़ा,
प्रार्थना व्याज कर आनन से विष का प्याला जो निकल पड़ा।
उस काल नराधिप के मुख की आकृति पर था अधिकारलास्य,
कुछ भाव भंगिमा से ढकता उसको था कृत्रिम अधर हास्य ॥

हे विप्रवर्य इस कानन में हैं आप सदा तपव्रत निस्पृह,
आवंश्यकता भवदीय अल्प संयम सनाथ है यह तृण गृह।
यह प्रकृति सुन्दरी ही बनकर परिकरी आपकी रहती है,
सब सुविधाएँ प्रस्तुत करके सेविका धर्म निर्वहती है ॥

यह कामधेनु आवश्यक क्या ? भवदर्थ बतायें हे ऋषिवर,
किस हेतु उतारेंगे नन्दन कहिए कानन कन्टक भूपर।
क्या राजहंसिनी मरुस्थल में रहकर सुषमा सरसायेगी,
क्या विषोद्यान में आकर के संजीवनि शोभा पायेगी ॥

हैं आप सदा वैखानसरत अतएव आपको उचित योग,
हम राजाओं के लिये नाथ आदिष्ट कीजिये राजभोग।
यह कामधेनु है भू सुरेन्द्र होकर मम इच्छा वशंवदा,
मेरे हित करती रहे सतत् संचित सुरपुर की सुसंपदा ॥

इसको पाकर मैं वैभव से सुरनायक को भी ललचा दूँ,
इसके बल पर निज महलों में मैं इन्द्रपुरी को भी ला दूँ।
इसके विनिमय में ब्रह्म पुत्र ! वैभव समस्त मुझसे ले लें,
अविलम्ब आप यह कामधेनु मुनिवर कृपया मुझको दे दें ॥

गज वाजि राजि मणि गण स्यन्दन देकर न तनिक दु:ख पाऊँगा,
पर कामधेनु इस आश्रम से मुनिराज आज ले जाऊँगा।
इस क्षीरसिन्धु सम्भव ललाम का एक मात्र मैं अधिकारी,
"राजानो रत्नभुज:" कहकर श्रुति ने आज्ञा दी अविकारी ॥

ऋषिराज आप तो अनधिकार उपभोग रत्न का करते हैं,
होकर भी शास्त्रविज्ञ भगवन् श्रुति से न कभी भी डरते हैं।
हम भूपों की अधिकार प्राप्त सम्पत्ति आप के घर आई,
विधिवश मैंने चिर प्रतीक्षिता अपनी ही खोई निधि पाई ॥

होकर क्षत्रिय हे भूमिदेव हम नहीं माँगते हैं भिक्षा,
केवल अपने अधिकृत धन की है इष्ट हमें करनी रक्षा।
दायित्व प्राप्त कर्त्तव्यों का सम्पादन ही है मनुज-धर्म,
इससे अतिरिक्त जिघृक्षा का प्रतिपादन ही है क्रूर कर्म॥

प्रत्येक व्यक्ति अधिकार प्राप्त यदि कर्मों में ही रहे निरत,
तो वाद विवाद विषादों के कट जायें कंटक सभी तुरत।
मानव को अब तो इष्ट अरे अभिरुचि से परछिद्रान्वेषण,
पीकर के सुधा स्वयं करता औरों को विष का परिवेषण॥

होकर भी स्वयं महापापी परिहास शंभु हरि का करता,
हो स्वयं नारकी नरकान्तक यश इच्छा से मन को भरता।
होकर भी कालकूट पुतला करता है शशि का तिरस्कार,
सह सकता नहीं तूल अघ का हो करके भी पातक पहाड़॥

किम् बहुना आप मुझे दे दें यह कामधेनु मेरा ही धन,
इससे मैं ले आऊँ भूपर सानन्द सुरों का नन्दन वन।
निज अग्निहोत्र हित धेनुवृन्द ले ले मुझसे प्रभु सहस्रशः,
पर ठुकराएँ ना यह आग्रह हो चुका प्रलोभन अब बहुशः॥

गाधेय वचन शिलीमुखों से ऋषि हृदय पद्म भी भिन्न हुआ,
यह देख नराधिप की लिप्सा करुणा से आनन खिन्न हुआ।
तत्काल निराशा स्वेदबिन्दु आयत ललाट पर आ झलके,
निज खेद रोक धर धैर्य विप्र नृप से बोले हलके हलके॥

अधिकार प्राप्ति देवों को भी सचमुच पागल कर देती है,
यह धन मदान्धता मनुजों में कुविचार गरल भर देती है।
पीकर भी कालकूट शिव सा अब कौन अचल रह सकता है,
अब कौन हिमाचल सा भीषण पविपात भला सह सकता है॥

जो नहीं प्रभावित हो विष से पा अनायास भी शेष तल्प,
वह एकमात्र पुरुषोत्तम है जिसकी क्रीड़ा कल्पना कल्प।
राजन्! हमने करके प्रतीति उन्मुक्त तुझे सौंपी सत्ता,
पर हुई आज विपरीत क्रिया बन गई गरल यह गुणवत्ता॥

हमने न स्वप्न में भी सोचा यह माला अहि बन जायेगी,
थी नहीं कल्पना चन्द्र रश्मि झंझा बन हमें सताएगी।
हमने नियुक्त था किया तुम्हें भारत भविष्णुता का रक्षक,
पर आज क्रूर दुर्भाग्य वशात् रक्षक ही स्वयं बना भक्षक ॥

हमने न कभी भी समझा था काँटा गुलाब में आएगा,
आभास नहीं था अरे कभी राजीव कुन्त बन जाएगा।
क्या आर्यावर्त भूमि सन्तत पशुओं से रौंदी जायेगी,
क्या मातृ क्रन्दना कभी नहीं नर के मन को दहलायेगी ॥

समझा था जिसे सजग प्रहरी हा वही आज चौरेन्द्र बना,
हा हा सरोजिनी ने कैसे यह कालकूट का विटप जना।
योजना कमलिनी में हमने कर यत्न संजोया मधुप पुंज,
पर निगल गया हा हा झट से यह लिप्सा कुंजर क्रूर कुंज ॥

जिसकी गोदी में सिर रखकर सोना हमने प्रारम्भ किया,
उसने ही हा हा शिरश्छेद करना अब तो आरम्भ किया।
अधिकार और कर्त्तव्यों की करती है जनता परिभाषा,
जिसकी न कदापि कुशासक नर अवगत कर पायेगा भाषा ॥

तुम द्वारपाल से मातृभूमि के संरक्षण के अधिकारी,
सुख सुविधाओं की लिप्सा तो नृप का है अनधिकार भारी।
इस भारतवर्ष धरातल पर सम्मान रहा है पोषक का,
इसके प्रतीप में यहाँ सदा अपमान हुआ है शोषक का ॥

इस भू ने संयम सुसलिल से शोषक कृषानु को बुझा दिया,
पोषक शशांक को निष्कलंक शिव सिर का भूषण बना दिया।
हमको तो जन्म जन्म से है नेतृत्व प्राप्त ऋषि मुनिगण का,
पर तुमको तो हमने सौंपा तात्कालिक शासन इस जन का ॥

होकर के क्षणिक स्वार्थ अन्धे यदि इसको अधिक सताओगे,
तो सत्य जान लो राजपुत्र तुम कल न कभी भी पाओगे।
ऋषिराज हमी हैं जन्म सिद्ध सुरभी सम्पदा हमारी है,
यह अनधिकार इस पर लिप्सा हे भूपति अहो तुम्हारी है ॥

तुम क्षणभंगुर हो राजपुत्र अस्थाई तेरा शासन है,
यह चार दिनों की चन्द्र निशा फिर कृष्ण पक्ष ही तमघन है।
उच्छृंखल क्षणिक विभव पाकर पूर्वापर का करते न ध्यान,
अपने ही तुच्छ स्वार्थ सुख में करते हैं धर्म नृशंस म्लान॥

सच कहो भूप जिसके बल पर करते तुम सबका उत्पीड़न,
यह अपरिमेय धन राज्य श्री सुस्थिरा रहेगी कितने क्षण।
अज्ञात रूप में कालबली सबका आह्वान किया करता,
वह दुनिवार्य कभी न कभी सबका बलिदान दिया करता॥

पर नीच मनुज को निज सिर पर भी आई मृत्यु नहीं दिखती,
साप्ताहिक सात दिनों में ही वह मुख फैला सबको चखती।
इसलिये भूप इस धरती पर तुम अल्प दिनों के शासक हो,
फिर भी पाकर सत्ताभिमान बन गये मनुजता त्रासक हो॥

इस आर्यभूमि ने बहुतों का निज नयनों से शासन देखा,
गिरगिर कर लुढ़क लुढ़क उठना सम विषम सुदिन दुर्दिन लेखा।
अगणित भूपों के राजछत्र इस आर्य भूमि पर ही चमके,
अगणित सुरराज विजेताओं के शासन चक्र यहीं दमके॥

पर यह शाश्वत सिद्धान्त सदा भूपाल सभी के साथ जुड़ा,
जो गिरा उठा वह निर्विवाद जो अकड़ा वह अविलम्ब मुड़ा।
यह पावन भारत वसुंधरा सत्ता के पाप नहीं सहती,
अविलम्ब उगल कर ज्वालाएँ पापी शासक को ही दहती॥

हैं जहाँ, राजप्रासाद वहीं थे सुर श्मशान कभी न कभी,
थे जहाँ मरुस्थल कभी घोर हैं, सिंधु दीखते वहीं अभी।
नरदेव ! विषम संसार चक्र अविराम रूप से चलता है,
सत्ताभिमानियों के मद को पा समय अवश्य कुचलता है॥

कोई भी अमर न हो पाया इस मर्त्यलोक भूपर आकर,
जो आये वे सब चले गये कोई रोकर कोई गाकर।
इस भारत भूपर रहा अचल सब लोगों का ध्वंसावशेष,
पर कीर्ति पताकायें फहरी जिनके मन में मद का न लेश॥

जिनके चरित्र को छू न सकी संसार चक्र की यह माया,
उनकी ही विमल यशोगाथा सुधियों ने मुदित हृदय गाया।
उरुगाय उन्हीं के चरण चूम होते कृत कृत्य प्रेम निर्भर,
जो सुजनों की स्मृति के दीपक मरकर भी वे नित रहे अमर॥

यह क्षीर सम्भवा कामधेनु सुरवन्दित रत्न पुरातन है,
ॠषियों की अधिकृत सुसंपदा ॠषिराज्य सदैव सनातन है।
हम ॠषिकुल पति जन्मना और तुम कतिपय दिन के हो शासक,
अतएव स्वत्व मेरा इस पर अब बनो न तुम इसके त्रासक॥

इसके पय से कर अग्निहोत्र करते हम वेद धर्म पालन,
इसके ही फल से हो तटस्थ करते जग का हम संचालन।
जाओ बस लौट सदन अपने छेड़ो मत मुझे गाधिनन्दन,
पर्याप्त कामधुक् के द्वारा कर दिया तुम्हारा अभिनन्दन॥

मन्थन के समय क्षीरनिधि के अधिकार पुरःसर कामधेनु
ॠषियों को सौंप लिया सिर पर सादर श्रीहरि ने चरण-रेणु।
अधिकार विभाजन में मधुरिपु करते न कभी भी पक्षपात,
उनकी मर्यादा का तुम ही करने आये हो अब विघात॥

यह शुल्क नहीं है धर्म प्राप्त अधिकार नहीं तेरा इस पर,
पुत्री यह ॠषियों की भूपति अभिचार नहीं तेरा इस पर।
कोई भी आर्यभूमि शासक ॠषियों से शुल्क नहीं लेता,
विनिमय में लेकर चरण धूलि श्रद्धा प्रसून ही है देता॥

भारत को जगतवन्द्य पद पर ॠषियों ने किया प्रतिष्ठित है,
यह ब्रह्म वंश निजधर्म निरत श्रुति मर्यादा पर निष्ठित है।
वस्तुतः आर्य मर्यादा ही भारत भविष्य की विशद सुधा,
जिसके आस्वादन से मिटती सम्पूर्ण विश्व की भोग क्षुधा॥

ज्यों ज्यों करता है यह मानव भौतिक सुविधाओं का विकास,
त्यों-त्यों करता है आमंत्रित अति दुर्निवार्य अपना विनाश।
संयत्रों की यह चकाचौंध क्या कर सकती मानस सर्जन,
क्या दारुयोषिता से सम्भव मंजुल अभिरुचियों का अर्जन॥

कितना भी पक्षी उड़े गगन आना उसको जहाज पर ही,
पुरुषार्थ वाद को अन्त समय जीना है ऋषि समाज पर ही।
ऋषियों का यह अध्यात्मवाद वास्तव भारत का दर्शन है,
जीवन की दृष्टि यहीं खिलती मानव का यहीं निदर्शन है॥

ओ हरिण ! तुम रहो सावधान यह मरुमरीचिका झूठी है,
झुठलाई तुमको भी अबतक मानवता तुमसे रूठी है।
ओ चातक ! पी पी रट न लगा क्यों आशा में अवसर खोता,
यह धूम राशि है जलद नहीं क्यों धोखे से वेसुध सोता॥

अब उठो उठो ऐ सुप्त सिंह !मधुमय यह पुण्य प्रभात हुआ,
तेरे पंजो पर श्वानों का कायरतापूर्ण निघात हुआ।
ओ तरल तरंगे विष्णुसुते ! तू शान्त बेग से क्यों बहती,
इन श्वान सेवरों के विवाद क्यों मूक भाव से है सहती॥

अब बहुत हो चुका उत्पीड़न ऋषिवंश इसे न सहेगा अब,
बनकर प्रालेय प्रभंजन सुत आलातवरूथ दहेगा अब।
सीमा हो गई तितीक्षा की अब शाश्वत क्षमा क्षमा छोड़ी,
बेला भी भग्न पयोनिधि की धृति ने गुरुता से मुख मोड़ी॥

अब शान्ति पाठ भी व्यर्थ हुआ नारे हो गये पुराने हैं,
वास्तविक क्रान्ति के नवल सूत्र अब तो भारत में लाने हैं।
मूल्यों में भी परिवर्तन की अब बहुत अपेक्षा हमको है,
मानव संस्करण परिष्कृति की अब बहुत प्रतीक्षा हमको है॥

अतएव लौट जाओ घर को सुरभी मैं तुझे नहीं दूँगा,
होकर कुलपति ऋषि कुल का मैं विनिमय का पाप नहीं लूँगा।
पुत्रिका भाव से कामधेनु यह नित्य रहेगी आश्रम में,
यह है अदेय संतत नृपाल मत भूल पड़ो तुम विभ्रम में॥

शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन कथमपि है इष्ट नहीं हमको,
सिद्धान्तों से करनी क्रीड़ा त्रयकाल अभीष्ट नहीं हमको।
यह निश्चय जानो राजपुत्र ब्राह्मण व्यापार नहीं करता,
कन्या गौओं का विक्रय कर शिर पर अघभार नहीं धरता॥

इसका निज प्रेम सुधा पय से लालन करती है अरुन्धती,
इसके गोमय से उटज लीप प्रमुदित रहती सौभाग्यवती।
सुर ललनार्चित सीमन्त व्यजन कर अंचल को आतप वारण,
मेरी सहचरी सदा इसको पूजती प्रीति कर निष्कारण॥

इस भारतीय शुभ संस्कृति की गोधन ही एक धरोहर है,
औरों का चाहे जो बर हो आश्रम का बर तो गोबर है।
यह कहकर विधिसुत हुए मौन मानस में प्रेम उमड़ आया,
तन हुआ कंटकित प्रेमपूर्ण नयनों में नेह सलिल छाया॥

सुरभी रसना से ऋषितनु का कर करके सुख से अनुलेहन,
आनन्द प्रफुल्लित रोमांचित कर रही मुदित होकर मेहन।
सादर वशिष्ठ कर कंजों से सहला सहला कर गल कम्बल,
गोमुख समलंकृत अंस किये होते पुलकित भर लोचन जल॥

संकेत देख निज कुलपति का सुरभी उटजान्तर चली गई,
उस ओर गाधिसुत के मन में क्रोधानल ज्वाला बढ़ी नई।
हो गये नयन विकराल लाल रद वसन क्रोध से फड़क उठे,
नाथावमान से क्षुब्ध हृदय सांग्रामिक भट भी भड़क उठे॥

तत्काल गाधिसुत हृदय जलधि आक्रोश वारि परिपूर्ण हुआ,
झट कामधेनु के ग्रहण हेतु उनका चल मानस तूर्ण हुआ।
चढ़ गई त्योरियाँ नयनों में आकस्मिक अरुणाई छाई,
कुछ फड़क उठे युग दशन वसन आनन पर कुछ लाली आई॥

उस काल वीर रस महाविटप नृप हृदय विपिन में फूल गया,
कामानुज के आवेश मध्य सुविवेक ज्ञान सब भूल गया।
झट क्रोध रक्त लोचन नरपति निज आसन तज कर उछल पड़े,
होकर निविष्ट आविष्ट रुष्ट सुरभी के सम्मुख हुए खड़े॥

कर सिंहनाद गर्जन भीषण करके मुनिवर का तिरस्कार,
श्रीमद मदान्ध हो गाधितनय कर रहे प्रदर्शित स्वाधिकार।
सचमुच सत्ता की मादकता नर को पागल कर देती है,
उसके मन प्याले में सहसा वह कालकूट भर देती है॥

ऋषि को भर्त्सित कर राजपुत्र खूँखार अधिक बिकराल हुआ,
अब उमड़ पड़ा अभिमान सिन्धु आनन कराल उस काल हुआ।
सुरभी की रश्मि पकड़कर में कर रहा आज नृप आकर्षण,
यह क्रूर कार्य सत्ता मद का या कहो धर्म का ही घर्षण॥

होकर तटस्थ वीभत्स दृश्य सब देख रही थी अरुन्धती,
करुणाश्रु नीररुह नयनों में अति कृपण वित्त ज्यों निरुन्धती।
अब सह न सकी सुरधेनु आज इस भांति धर्म की महाम्लानि,
सत्तातिरेक सम्भव दुर्मद लख ऋषि को भी हो गई ग्लानि॥

नरपति के क्रूर करों से अब सुरधेनु हो रही थी कृष्टा,
वात्सल्य सरोवर नलिनि आज हो रही मत्त करिकर क्लिष्टा।
निर्दोष धेनुका आक्रन्दन सुन खगमृग तरु गण रोते थे,
यह देख धर्म का तिरस्कार वनदेव क्षुब्ध से होते थे॥

कातर नयनों से कामधेनु ने ब्रह्मपुत्र आनन देखा,
अब प्रकट हुई ऋषि के मुख पर निःसुप्त क्रोध गुण की रेखा।
उत्फुल्ल हुआ पंकज कपोल कुंडल भी कुछ हो गये लोल,
हो गये केश मेचक विलोल अब सिहर पड़े वर रद निचोल॥

ये सत्तालोलुप नरपिशाच करते निरीह जन का पीड़न,
देखो तो इन नर पशुओं का निर्दयतापूर्वक उत्पीड़न।
ये द्वारपाल ज्यों यहाँ अहो जन रक्षण हित आदिष्ट हुए,
पर उच्छृंखल हो यज्ञभांड उच्छिष्ट करण हित दिष्ट हुए॥

अब नहीं सहूँगा मूर्खों का इस भाँति पराभव भव कुकृत्य,
बस ब्रह्मदंड से संमर्दित कर रहा छात्रबल मैं निवृत।
जिस भाँति मत्त केशरी क्रूर गजवन का विघटन करता है।
कर भिन्न शीर्ष मुक्तायें वह उन्मुक्त विपिन में चरता है॥

उस भाँति आज इस नरपति का विध्वस्त सैन्य बल कर दूँगा,
इसके अखर्व सत्ता मद को पल मध्य आज मैं हर लूँगा।
योंकर संकल्प कल्पव्रत ने कर दिया दर्भ से संप्रोक्षण,
बस गरज पड़ी अब कामधेनु नृप सैन्य दलन हित काली बन॥

कर खुर प्रहार चरण प्रसार नृप सुभट गणों को मार मार,
कर रही युद्ध लीला सुरभी अविलम्ब बहाकर रक्त धार।
क्षण मध्य सैन्यबल क्षीण हुआ श्रीहत अब भूप प्रबीण हुआ,
सत्ता का गर्व विलीन हुआ नृप मुख लज्जा से दीन हुआ॥

ज्यों प्रलय प्रभंजन तीब्र बेग तृण कक्ष उड़ा देता पल में,
त्यों कामधेनु ने क्षिप्त किया नृपसेना को उद्धत जल में।
बस हाहाकार कराल मचा संग्राम धाम कोहराम मचा,
रणचंडी का यह शुभाह्वान या क्रूर काल अभिराम मचा॥

चट चट चटकीं गिरि चट्टानें तड़ तड़ तलवारें तड़क उठीं,
कालानल की ज्वालाएँ भी संग्राम भूमि में भड़क उठीं।
थी भीमनाद करती चंडी कर समर भूमि में अट्टहास,
रक्ताक्तकरालतरास्यों से पी पी शोणित सरिता, विलास॥

था महाश्मशान भयानक या प्रालेय शम्भु का यह तांडव,
अथवा स्फुल्लिगमाली उद्धत अथवा उद्वेलित था वाडव।
क्षण मध्य भस्म कर भूप विभव उपहत वशिष्ठ ज्वाला माली,
सतरंग सिंधु सा शान्त हुआ संतुष्ट क्षमा करुणाशाली॥

नृप हुआ म्लान अवनत आनन, अवलोक सैन्यवल पराभूत,
पंचानन पीड़ित कुंजर सा लज्जानत मस्तक मदोद्धूत।
कर गया पलायन गाधितनय फिर कामधेनु आश्रम आई,
सब सुखी हुए आश्रमवासी खोई निधि को ऋषि ने पाई॥

भावाविभूत सुरभी ऋषि के चरणों को अब चाटने लगी,
निज नयन अश्रुओं से वन के संकट बन को काटने लगी।
ऋषि ने कर मूर्धा समाघ्राण फेरा कर पंकज को सिर पर,
पुत्री भी मुदित हुई मानों चिर प्रोषित पिता भवन पाकर॥

उस ओर विश्वरथ तपोलीन कर रहे क्षात्र बल का संचय,
हो सका नहीं था अभी उन्हें दुर्दान्त ब्रह्म बल का परिचय।
दुर्धर्ष तपस्या सलिलधार वैरानल को न बुझा पाई,
संयम की चिन्तन धारा भी सन्मार्ग उन्हें न सुझा पाई॥

प्रत्येक कार्य की सफल सिद्धि संकल्पों पर निर्भर होती,
सामान्य सूक्ति से कभी नहीं प्रकटा करती मंजुल मोती।
क्या मरु मरीचिका कर सकती अविराम सलिल सींकर सिंचन,
क्या धूम समूहों से संभव चातक हित स्वाति वारि मुंचन॥

तप के ही साथ गाधिसुत की वैरानल ज्वाला भी भड़की,
ब्राह्मण पर करने को प्रहार काली ज्यों करवाली कड़की।
अब भूल पराभव भूतपूर्व पाकर रण का वैभव अपूर्व,
आक्रोश भरे आश्रम आए ज्यों उमड़ पड़ा प्रालेय और्व॥

काष्ठाएँ तम से पूर्ण हुई मार्तंड छिप गया धूलों में,
हा कानन के अति मृदुल फूल अब बदल गये कटु शूलों में।
ललकार ब्रह्म सुत को सहसा आह्वान किया रणहित उनका,
थे रोक नहीं पाये पहले संकल्प कल्प संभ्रम जिनका॥

सन् सन् सन् श्येन सरिस सनके सैनिक ऋषिकुल को मान लवा,
धम् धम् धम् धम् धम् धमक उठी कौशिक मन में प्रतिशोध दवा।
चम् चम् चम् चम् चम् चमक उठे चपला से दिव्यायुध अनेक,
मन् मन् मन् महामंत्र मनके ज्वालामाली से तज विवेक॥

उद्दंड उग्र उद्‌भट नृप ने चाहा करना ऋषि का धर्षण,
प्रारंभ किया झट धृतावेश वारिद सम अस्त्र-शस्त्र वर्षण।
पशुबल की मादक मदिरा ने हर लिया विवेक मनस्वी का,
हा दुर्निवार्य तप क्रूर बना आपत बन तरुण तपस्वी का॥

वस्तुतः क्रोधं मानव मन का होता सपत्न सबसे उत्कट,
इसके कारण ही मड़राते जीवन पर संकट मेघ विकट।
प्रतिशोध अनल में ज़ल जाते क्षण में ही मानव मूल्य सभी,
इसकी झंझा में उड़ जाते सद्‌गुण सुरपादप तुल्य सभी॥

यह जटिल समस्या दुराधर्ष सोचना हमें इसका हल है,
सुर दुष्कर तीव्र तपस्या का क्या पर उत्पीड़न ही फल है।
अब शान्त सान्द्र सागर सर में सहसा ही ज्वार उमड़ आया,
कल्लोल लोल उतुंग निरख कुलपति का मन भी घबराया।

सुप्तोत्थित सिंह सरिस उठकर अवलोक ध्यान में नृप भविष्य
उद्दीप्त किया रोषानल को अर्पण हित शासक मद हविष्य।
अब थिरक उठी विधु आनन पर दुर्धर्ष ब्रह्म बल की आभा,
मानो अभिरक्त अरुणिमा से सायन्तन शारद चन्द प्रभा॥

क्या मणि वियोग से व्यथित हृदय होकर अधीर भुजगेन्द्र जगा,
अथवा प्रशान्त वारीश मध्य यों ज्वार वीर रस ही उमगा।
अब गई शान्ति मुख कान्ति क्लान्त विधुपुत्र चित्त बेचैन हुआ,
आभुग्न नासिका भृकुटि कुटिल रोषाक्त रक्त ऋषि नैन हुआ॥

तत्क्षण समाप्त कर संध्या को नैमित्तिक भी संक्षिप्त किया,
अवलोक समागत महाविघ्न हवनीय द्रव्य निक्षिप्त किया।
कर तुरत विश्रमित वैश्वानर मुनि देकर सब को आश्वासन,
उद्दंड भूप के दंड हेतु ले ब्रह्मदंड अग-जग त्रासन॥

कर से उतार दर्भांगुलीय आसन पर रख दी जप माला,
अब शान्त हृदय में धड़क उठी रिपु दमन हेतु क्रोध ज्वाला।
फड़ फड़ फड़ रदपट फड़क उठे चट चट चट चटकी चट्टानें,
भयभीत हुए सब लोकपाल सुरवृन्द लगे सब घबराने॥

हिल गया सुखासन ब्रह्मा का छूटी समाधि अब शंकर की,
चिरकाल सुप्त उगलने लगी ज्वाला स्फुलिंग प्रलयंकर की।
सहसा वैश्वानर शान्त हुआ आहुति का भी विश्राम हुआ,
रण में पशुबल के आहुति हित वाशिष्ठ रोष उद्दाम हुआ॥

रे ठहर, मनुजता के शोषक ! राजन्य वंश पांशन पामर,
यह दुराधर्ष पशुबल तेरा सुस्थिर न रहेगा अब पल भर।
यह छुद्र काक शावक अब तो उच्छिष्ट कर रहा पुरोडास,
लेने दौड़ा देखो देखो केहरि का यह लघु शशक ग्रास॥

कर रहा मुरैला अरे अरे अब वैनतेय बल की समता,
छोटा सा गढ़ा दिखा सकता क्या सागर के जल की क्षमता।
इस रोषानल में नृप कलंक यह तूल सरिस जल जायेगा,
मम ब्रह्मदंड बन कालदंड उद्दंड भूप को खायेगा॥

ब्राह्मण का तेजोमय प्रभाव मैं आज जगत को दिखला दूँ,
जीवन यात्रा की सीख आज मैं गाधितनय को सिखला दूँ।
ललकार गीदड़ों की कब तक चुप चाप केशरी करे सहन,
सूखे तृण को कब तक हुताश होकर पार्श्वस्थ न करे दहन ॥

अब स्वाहाकार समाप्त करो होताओं होओ सावधान,
लो शान्ति पाठ विश्राम तनिक कर महाक्रान्ति का शुभाह्वान।
बटुओं स्वाध्याय विसर्जन कर कुछ क्षण हित हो जाओ सतर्क,
अब रणाध्याय का नया दृश्य देखो तुम भी होकर सतर्क ॥

यों निज कुल को कर समाश्वस्त ले कालदंड सा ब्रह्मदंड,
निकले कुटीर से देने हित उद्दंड भूप को घोर दंड।
उस काल हो रहा दुर्निरीक्ष आकार ब्रह्म वर्चस्वी का,
लख थर थरा गई अरुन्धती त्राशक आवेश तपस्वी का ॥

भ्राजे ललाट पर श्वेद बिन्दु मुनिवर वनिता थर- थर काँपी,
बिम्बाधर तत्क्षण सूख गया मन में विशाल ज्वाला व्यापी।
झंझा विधूत सुरब्रतती सी तत्काल मुनिवधू सिहर गई,
तन हुआ कंटकित शिथिल चित्त में धधकी चिन्ता चिता नई ॥

वह निर्निमेष दृग से निहार पति वदन लगी धीरज खोने,
अब लगी पगी करुणा रस में वह फूट फूट करके रोने।
देवी के चारु दृगंचल से करुणा जल बिन्दु छलकते थे,
झरते नवनील सरोरुह से हिमकण ज्यों विशद झलकते थे ॥

अविराम अश्रुओं ने यद्यपि कज्जल नयनों का धो डाला,
पर बुझा न पाये वे भी हा यह शोकमयी पावक ज्वाला।
वह प्रकृति सौम्य मुनि वनिता भी कुछ क्षण के लिये हुई चंचल,
हो गये समीरित अब सहसा रद वसन युगल ज्यों नव चल दल ॥

धर हाथ माथ पर ऋषि नारी लेकर विवेक का आलम्बन,
अनुनय हित तत्पर हुई तुरत कर मृदुवाणी का अवलम्बन।
हे आर्यपुत्र! ठहरें ठहरें यह रोष आप को उचित नहीं,
है क्षमा विप्रकुल का सर्वस आक्रोष आपको उचित नहीं ॥

गंभीर कृपा कूपार मध्य विक्षोभ अहो कैसे आया?
तूफान कौन जो सागर में मर्यादा हित संकट लाया?
हे देव ! आप विक्रान्त शान्त ब्रह्मार्षि वर्य भूसुर पुगंव,
यह नहीं शोभता अहो यहाँ प्रतिशोध पूर्ण भीषण रौरव ॥

है क्षमा सार ब्राह्मण कुल का उपराम मनुज का अलंकार,
नर भूषण दिव्य तितिक्षा ही उपहार भव्य संयम प्रचार।
इन दिव्य गुणों के कारण ही ब्राह्मण की अर्चा होती है,
इनसे ही सुरपुर में सन्तत भूसुर की चर्चा होती है ॥

देखें पृथ्वी अगणित प्रहार चुप-चाप सहन ही करती है,
भूदेवी सर्बसहा क्षमा इससे कहलाती धरती है।
होकर उत्खात स्वयं धरती जीवन जल सब को देती है,
चुपचाप जीव का विषम भार यह धरा आप सह लेती है ॥

अतएव क्षमा इसको कहकर शास्त्रों ने सदा पुकारा है,
ईश्वर को भी इसका अंचल इस कारण ही तो प्यारा है।
हे देव आप कौशिक नृप से कैसे प्रतिपक्ष निभायेंगे,
क्या शशकों से मृगराज कहीं लड़ने में शोभा पायेंगे?

क्या सुरसरि तरल तरंगों से स्पर्धा कर सके कर्मनाशा?
इस क्षुद्र नीच नरनायक से क्यों करें आप सद्गुण आशा?
सच पूछो तो दुःख का कारण अपनी ही स्वयं अपेक्षा है,
इससे सौगुनी भली होती जगती में स्वयं उपेक्षा है ॥

यह एक विलक्षण देवी है जिसको हम आशा कहते हैं,
हो विमुख शान्ति पाते जिससे सम्मुख हो दुःख से दहते हैं।
यह सेमर पुष्प समान प्रभो खट पटी जगत का धंधा है,
भटका भवाटवी में अटका इसमें भूला नर अंधा है ॥

क्या देकर दंड आप नृप की पाशवी वृत्ति को हर लेंगे?
क्या निग्रह द्वारा क्रूर सर्प का मानस वश में कर लेंगे?
भीषण भुजंग का एकमात्र है वशीकरण मृदुबीन, बाद्य।
अतएव खिझाएँ नहीं उसे होवें प्रसन्न महिदेव आद्य ॥

हे आर्य ! वैर का वैर कभी उपशामक नहीं हुआ करता,
क्या कहो कहीं विद्युत प्रवाह विद्युत प्रवाह का गति हरता ?
अतएव नाथ ! करती विनती पग पड़ सहचरी तुम्हारी है,
सह धर्म भाव से माँग रही भिक्षा यह तापस नारी है ॥

छोड़े अदम्य आक्रोश आर्य ! यह संयम का संहर्ता है,
यह मानवता धन का लुंठक शाश्वत मूल्यों का हर्ता है ।
सुर दुर्लभ इस मानव तन को पल में यह प्रेत बना देता,
मानव मनस्विता को क्षण में यह क्रूर कृतान्त मिटा देता ॥

इसके चंगुल में धीर-वीर नर पुंगव भी फँस जाते हैं,
इसके प्रभाव के वशीभूत नर स्वयं भूत बन जाते हैं ।
हे दयित ! आप देखें विचार पशुबल का उत्तर दंड नहीं,
इस प्रतिक्रिया से निगृहीत क्या होगा यह उद्दंड कहीं ?

अतएव करें मुनि !क्षमा आप यहऋषिकुल का शाश्वत धन है,
इसके बल पर ही तो पाती वसुमती समत्र समर्चन है ।
यह क्षमा सार है श्रुतियों का यह शाश्वत सत्य तपस्या का,
है यही विप्रकुल का भूषण मंजुल कृतित्व वरिवस्या का ॥

होते अधीर क्यों ब्रह्म पुत्र लखकर बालक का अनौचित्य,
क्या सिंह कभी भड़का करते लख पिपीलिका का चपल नृत्य ?
स्वीकार करें अनुनय मेरा मत बनें द्विजोत्तम आक्रामक,
हो जाँय सदा के लिये शान्त जिससे बिरोध रुज संक्रामक ॥

प्राणेश ! आपकी मूक क्षमा शापादपि होगी दुर्निवार्य,
जिससे होगा स्वयमेव क्रूर गाधेय रोष भी प्रतीकार्य ।
भगवन् ! इस तीव्र तितिक्षा को इतिहास कभी न भुलायेगा,
भवदीय क्षमाशीलता प्रभो ! भारत भविष्य दुहरायेगा ॥

आने दें नरपति झंझा को बनकर हिमवान सहेंगे हम,
प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु की इच्छा से सुखी रहेंगे हम ।
कपियों के धक्कों से मुनीन्द्र ! सुरपादप नहीं हिला करते,
सामान्य झकोंरो से कदापि भूधरवर नहीं डुला करते ॥

यह मानव की दुर्बलता ही उसकी अशान्ति का है कारण,
विज्ञान खड्ग द्वारा उसका हम कर दें क्षण भर में दारण।
हो शान्त आप सुस्थिर गंभीर बस शान्त महासागर समान,
सम्पन्न पूर्ववत् करें क्रिया पर रहें निरन्तर सावधान॥

यदि आयेगा नृपकुल कलंक वह सीख यहाँ से पायेगा,
मुनिकुल क्रोधानल ज्वाला में ज्यों शलभ भस्म हो जायेगा।
वर्चस्व देख ब्राह्मण कुल का होगा नर नायक पराभूत,
बस आप रहें ऋषि निष्प्रमाद साधन होते संयम प्रसूत॥

शुचि मानवीय शाश्वत मूल्यों की संयम प्राण प्रतिष्ठा है,
यह लोकोत्तर बहुमूल्य रत्न यत्नों की मंगल निष्ठा है।
संयम मनुष्य को देवों के सिंहासन पर बिठलाता है,
इस नर को भी नारायण से संयम अविलम्ब मिलाता है॥

व्यक्तित्व संत का आम्र सरिस अगजग रसमय कर देता है,
सह कर पत्थर की मार आप सबको मंजुल फल देता है।
होते श्रीखंड समान संत निरपेक्ष सुगंध चरित निर्मल,
नाशक कुठार भी पाता है जिनसे विशुद्ध पावन परिमल॥

हैं आप संतकुल मुकुटरत्न ब्रह्मर्षिवर्य हे प्राणेश्वर!
लखती है दृष्टि सदा जिसकी कण-कण में व्यापक परमेश्वर!
अतएव आप चुपचाप रहें मुनि! क्षमा शाप से है भारी,
अपने ही कर्मों के फल से होगा विनष्ट यह व्यभिचारी॥

हो शुभारम्भ आहुति का फिर स्वाध्याय करें बटु आरंभण,
हो वषट्कार प्रारम्भ पुनः मुनि के मानस का विश्रम्भण।
अब आर्यपुत्र विश्राम करें मैं शीतल सलिल पिलाती हूँ,
आक्रोश जनित श्रम हर पल में अंचल से व्यजन डुलाती हूँ॥

यों कह पद टेक प्राणपति का आसन पर मुनि को बिठा दिया,
निज अनुनय बचन चातुरी से आक्रोष निमिष में मिटा दिया।
सलिलार्द्र चैल अंचल से फिर श्रम वारि बिंदु को पोंछ पोंछ,
पत्नी ने पति को स्वस्थ किया पट से प्रिय का आनन अंगोछ॥

बोली अरुन्धती मुसुकाकर अब शान्त चित्त से भजन करें,
एक बार पुन: वेदध्वनि से वन का समस्त संताप हरें।
हा कैसा था मेरा बसन्त यह ग्रीष्म कहाँ से टपक पड़ा,
किसने कर दूर सुधा घट को ले आ पटका मधुपूर्ण घड़ा ॥

बोले वशिष्ठ हो समाश्वस्त भर प्रेम वारि युग नैनों में,
भामिनी का हिला चिबुक किंचित अनुराग भरे मृदु बैनों में।
हे प्रिये ! अधीर न अब होओ मैं नहीं करुँगा प्रतीकार,
तेरे इन अनुनय बचनों ने दे दिये मुझे प्राणोपहार ॥

कर दूर पतन मेरा तुमने पत्नी की कर दी परिभाषा,
था पतित हो रहा पति कैसी है अरुन्धती की मृदुभाषा।
हे प्रिये ! आर्यनारी समुचित तुमने कर्तव्य निभाया है,
अनिवार्य पतन से तुमने ही निज पति को आज बचाया है ॥

अनुकरण करेंगी तेरा ही भारत भविष्य की ललनायें,
कर के होंगी कृत कृत्य तुझे शत शत अभिनन्द छलनायें।
इतिहास पृष्ठ के परिसर में तुम अमर रहोगी अरुन्धती,
अनुनीत भर्तृका पतिव्रता तुम कहलाओगी सदा सती ॥

गीत

शम्भु बनकर गरल मैं तो पी लूं,
लोग जो मृत्यु से त्राण पायें।
रात दिन दीप जैसे जलूँ मैं,
लोग जो तम से निर्वाण पायें ॥1 ॥
मैं तो अपने को रज में मिला दूँ,
फूल जो खिल सकें इस गगन में।
मैं तो पल भर में निज को मिटा दूँ,
पा सकें लोग जो सुख सपन में ॥ 2 ॥

रह के बीरान में मैं तो जी लूँ,
भृंग उद्यान में गुनगुनायें।
चाँद जो कष्ट से बच सके तो,
राहु से मैं स्वयं को ग्रसा लूँ॥
नभ में पक्षी मुदित उड़ सके तो,
जाल में मैं तो निज को फँसा लूँ।
जन्म भर मौन हो मैं तो रो लूँ,
जो कमल सर्वदा मुस्कुराये॥
हँस के सह लूँ मैं दारुण पिपासा,
प्यास चातक जो अपनी बुझाये।
माथ पे ले लूँ जग की निराशा,
शून्य को कोई आशा बँधाए॥
जा के एकान्त में मैं तो सो लूँ,
लोग जो नींद से जाग जाएँ॥

मालिनी

अनुनय रसधारा सार संपृक्त चेता,
दयित निज प्रिया को तोष संतोष दे के।
मुनिवर फिर होके आसनासीन राजे,
विबुधवृत यथा हों सर्ग कर्ता विधाता।

* श्री राघव : शन्तनोतु *

●

सप्तम सर्ग

प्रतिशोध

अब हुआ प्रखर गाधेय इद्ध प्रतिशोधानल,
करवाल काल रसना कराल ज्वाला अविरल।
नभ में उड़ती शतशः स्फुलिंग माला उज्ज्वल,
लप लप लपके लपटें प्रचंड प्रतिशोध उगल॥

विकराल प्रलयकालीन कालकृत रणतांडव,
ज्यों हुआ उपस्थित स्वयं सिन्धु शोषक बाडव।
झन झन झन्झा झन्कार बैरि गर्जन गौरव,
मनो पुण्य कदन कर रहा क्रूर दारुण रौरव॥

अभिमानालात समिद्ध घोर वर वैश्वानर,
आक्रोश सर्पि सन्तुष्ट पुष्ट पुरुषार्थ प्रखर।
करने को भस्म समस्त ब्रह्म बर्चस भास्वर,
सत्ता समीर प्रेरित भड़का संगर जित्वर॥

यह महाकाल का दूत जगत का क्लेश हेतु,
करने को प्रस्तुत अहो भग्न संसार सेतु।
यह क्या विडम्बना कहें आप द्विजवंश केतु?
भयहेतु उताहो मरण हेतु यह धूमकेतु॥

हे विधे! तुम्हें क्या इष्ट कौन इसका भोजन?
इसकी ज्वाला से कौन देश होगा निर्जन?
किसके सिर पर मड़राता धर कृतान्त का तन?
इसकी लपटों में कौन आज हा बने हवन?

वस्तुतः यही प्रतिशोध महानल है अनन्त,
जिसकी न कभी बुझ सकी बुभुक्षा अति दुरन्त।
यद्यपि खा खा कर दिया पूर्ण इतिहास अन्त,
भगवन्त कभी कर सके न इसको अहो शान्त॥

ऋषिवंश वेणु वन को करने हित भस्मसात्
अब हुआ उपस्थित दुर्निवार्य यह पवन जात।
अति शान्त विपिन में यह कैसा भीषण विघात,
दिख रहा रात सा हा हा क्यों मधुमय प्रभात॥

सचमुच सत्ता लोलुप मानव कितना निर्दय,
जिसमें न प्रीति की गंध नहीं अभिराम प्रणय।
करता केवल जनता पालन का यह अभिनय,
वस्तुतः न इसमें विनय नहीं ईश्वर का भय॥

निर्भीक अभीक गाधिसुत आगे बढ़ बढ़ कर,
उटजों को करता ध्वस्त क्रोध में भर भर कर।
सर सर चलते निर्झर से उसके खर तर शर,
हो रहे क्षुब्ध वारीश शुष्क गिरि निर्झर सर॥

अब हुआ उपस्थित एक पक्ष रण यज्ञ नव्य,
ज़िसमें न वेद की विधा नहीं परिणाम भव्य।
कौशिक नृप लिप्सा जहाँ बन गई पंचगव्य,
एक ही जहाँ है होता याज्ञिक हव्य कव्य॥

आकर्ण पूर्ण कार्मुक ही जहाँ स्रुवा बन कर,
भ्राजता जहाँ घृत आहुति थे कौशिक के शर।
बलिदान जहाँ हो गया राजमद पापोत्कर
मुनि देख रहे साश्चर्य दृष्टि से यह अध्वर॥

खग कुल कोलाहल निरत नीड़ छोड़ने लगे,
अवलोक दृश्य वीभत्स विकल बटु बृन्द भगे।
तापस आये मुनि निकट क्रोध आमर्ष पगे,
लख दुर्विभाव्य विधियोग महर्षि वशिष्ठ जगे॥

मुनिवर ने कौशिक को अभिमुख आते निहार,
पहले से जो कर रहे महा भीषण प्रहार।
निज दिव्यास्त्रों से ऋषि परिकर को मार-मार,
कर रहे महा प्रतिशोध प्रदर्शन नृप कुमार॥

बोली अरुन्धती निरख विप्रकुल पर संकट,
लख दुर्निवार्य गाधेय क्रूर प्रतिशोध विकट।
नीरज नयनों से बहा अश्रुधारा उत्कट,
करके किंचित ऋषि ललनोचित आक्रोश प्रकट॥

हे आर्य ! करें मत देर उठायें ब्रह्मदंड,
रोकें इससे ऋषिकुल का यह संकट प्रचंड।
हर लें पल भर में गर्व गाधिसुत का अखंड,
उद्दंड भूप भी इससे पाये तीक्ष्ण दंड॥

ब्रह्मन ! इस जटिल परिस्थिति का प्रतिशोध करें,
उच्छृंखल सत्ता में कुछ गति अवरोध करें।
इस ब्रह्मदंड से नृप का आप निरोध करें,
प्रतिशोध हुताशन का भी किंचित शोध करें॥

हे देव ! न मानें बुरा आप की एक भूल,
बन गई आज इस आश्रम के हित विषम शूल।
करि पद से कुचले गये सलोने विविध फूल,
हा ! मधुर क्षितिज के मध्य उड़ रही आज धूल॥

हम ऋषि दम्पति एकान्त भजन करने वाले,
रहते मनको सन्तत सात्विकता में ढाले।
सपने में भी न लखे विमोह मद के प्याले,
अतएव हृदय उपवन में सद्‌गुण मृग पाले॥

हमने सुरेन्द्रपुर वैभव को भी ठुकराया,
भूपालों को मणि मुकुट हमी ने दिलवाया।
हमको न कभी बहका पाई भव की माया,
अतएव हमारे दरश हेतु यह नृप आया॥

सब को संतो से एक अपेक्षा यह होती,
उपलब्ध यहीं होती मानवता मृदु मोती।
हँसती हैं यहीं जगत की वे आँखें रोती,
जगती हैं यहीं सकल जग की मेधा सोती॥

पर अहो भूप दुर्भाग्य यहाँ भी आकर के,
कुछ पा न सका प्रभुपद में शीष झुका कर के।
मर गया बिचारा नृपमद में इतरा कर के,
रह गया रिक्त कर सुरतरु ढ़िग भी जाकर के॥

सुरभी द्वारा कर नृप का राजोचित स्वागत,
कर दिया आपने ही उसका मन पापोद्धत।
अहि-से कुपात्र को दूध पिलाकर हे विधिसुत,
कर दिया आपने कालकूट उसमें प्रस्तुत॥

फल मूलों से यदि आप उसे करते सत्कृत,
न्यायत: उसीके लिये भूमिपति था अधिकृत।
तत्क्षण अभ्यागत तुष्ट सत्वगुण से होता
प्रभुपद में शीश नवाकर निज कल्मष धोता॥

पर व्यर्थ सिद्धियों का मुनिनाथ ! प्रदर्शन कर,
कर दिया आपने उसे धेनु हित लोभ मुखर।
है चमत्कार अभिशाप सन्त हित हे मुनिवर,
इससे पड़ता भोगना सुधी को जीवन भर॥

धनपति का स्वागत धन से नहीं किया जाता,
उसको तो सात्विकता से जीत लिया जाता।
इस भाँति निभाते आप भूप से यदि नाता,
तो यह न आज दारुण संकट सन्मुख आता॥

वे सन्त नहीं जो चाटुकार पूंजीपति के,
अभिमानी दम्भी दुर्मदान्ध मिथ्यामति के।
लोलुप सन्तत आसक्त दास विषयारति के,
वे कभी नहीं हैं पात्र जगत्पति सद्गति के॥

अतएव आप का ही प्ररोह तरुखंड हुआ,
इसमें प्ररुढ़ विषफल उल्बड़ उद्दंड हुआ।
प्रस्तुत जिसके हित आज काल का दंड हुआ,
वह ब्रह्मदंड ही आज भूप का दंड हुआ॥

इस ब्रह्मदंड से आप करें नृप का निग्रह,
क्षणभर में निष्फल करें भूप आयुध संग्रह।
पर नहीं बध्य यह यद्यपि पामर असदाग्रह,
है अनुग्राह्य नृप नीच आप हैं निरवग्रह॥

सुन अरुन्धती के बचन नीर दृग में छाया,
ऋषि पुलकित हुए विवेक दिव्य तत्क्षण आया।
मानो पत्नी से मूलमंत्र मुनि ने पाया,
मन में कौशिक का किंचित निग्रह ठहराया॥

निकले आश्रम से कर में लेकर ब्रह्मदंड,
कीनास सरिस मुनि दिखे आज धृत कालदंड।
थे साथ शिष्य संरब्ध युद्ध हित ब्रत अखंड,
उद्दंड भूप के दंड हेतु ऋषि चंड चंड॥

था मन अशांत कुछ निरख मनुज संहार निकट,
आभुग्न नासिका चूम रही थी भृकुटि विकट।
उर उदधि मध्य उमड़ा विषाद का ज्वार प्रकट,
अवलोक भूप आवेश द्वेष मत्सर उत्कट॥

सिर पीट सोचने लगे विधे अब क्या विधेय।
किस भाँति समस्या होगी मुझसे समाधेय।
गाधेय क्रोध ज्वाला स्फुलिंग अति अप्रमेय,
धीरज धर करूँ दण्ड से नृपपशु को विनेय॥

एकान्त शान्त चित प्रथम भजन हम थे करते,
नित पंचयज्ञ कर पंचभूत का दुःख हरते।
स्वाध्याय होम ब्रत शील सदा सुख से चरते,
कानन में रहकर नहीं काल से थे डरते॥

पर पाप प्रतिष्ठा कैसा यह दुर्दिन लाई,
जिस कारण शुद्ध तपोवन में विपदा आई।
खुद गई आज दो वर्ग बीच लम्बी खाई,
भूपति के मन दर्पण में भी छाई काई॥

मैंने ही सारमेय को पायस खिलवाया,
मैंने केहरि का भाग शशक को दिलवाया।
मैंने मूषिक को गरुडासन पर बिठलाया,
अतएव उसी त्रुटि का यह फल सम्मुख आया॥

मैं नहीं जानता था कि शत्रु होंगे अपने,
क्या पता शूल सम फूल सरिस होंगे सपने।
अज्ञेय कि उडुगन स्वयं लगें शशि को झपने,
था नहीं ज्ञात गिरि मेरु लगेगा क्या कँपने॥

॥ गीत ॥

गीत मैं किसको सुनाऊँ, रागिनी मैं क्या बजाऊँ? टेक॥
दिवस के इस तुमुल स्वर में भ्रान्त मेरी चेतनायें।
मन्द कुछ कुछ हो चली थी साँझ तक जो वेदनायें।
शूल शतशत चुभे उर में निरख जग व्यापार कलुषित।
देवता वह है कहाँ श्रद्धा सुमन जिसको चढ़ाऊँ? १॥

सूर्य चंचल चन्द्र चंचल चल रहे हैं सकल तारे।
नियति नियम निवध्य जग के चल रहे हैं जीव सारे
हा! किसे अपनी व्यथाओं से अरे अवगत कराऊँ।
रागिनी मैं क्या बजाऊँ.........? २॥

कौन पतझड़ देख कर चीत्कार से अब रो सकेगा?
कौन पुष्पों को मुदित लख अश्रु से मुख धो सकेगा?
हाय हाहाकार को किसको यहाँ है तनिक अवसर?
रसिक अहि अब हैं कहाँ मैं बीन से जिसको रिझाऊँ? ३॥

* * * * * * *

बस बस वशिष्ठ अब और अधिक संताप न कर,
दे ब्रह्म दंड से दंड भूप का बल मद हर।
जिससे या जाये सीख महिप मदमत्त मुखर,
देखें यह भी ब्राह्मण कुल का वर्चस्व प्रखर॥

उच्छृंखल पशु के लिये दंड ही शिक्षा है,
अति नीच नराधम हेतु यही शुभ दीक्षा है।
उद्धत भुजंग को कथमपि उचित उपेक्षा है,
उसके उपमर्दन की ही यहाँ अपेक्षा है॥

यह निश्चय कर मुनि मन्द मन्द मृदु मुसकाते,
आगे आये हलके हलके भय दरशाते।
थे साथ तपस्वी शिष्य न मन में घबराते,
अवलोक नृपति के हुए नैन रिस से राँते॥

प्रतिशोध वह्नि ज्वाला से जलकर गाधिसुवन,
करने को तत्पर हुआ अहो ऋषि वंश कदन।
फड़ फड़ा उठे शस्त्रास्त्र मनो हो कालवदन,
आया वन में धर विविध रूप यमराज सदन॥

पवमान हो गया मन्द तिरोहित चंड किरण,
हय खुरोक्षिप्त रज राशि बनी अम्बरावरण।
चौके सभीत दिक्पाल लोक पति पुरस्वरण,
कर भाग रहे भयमग्न भग्न निजलोक शरण॥

अब क्रूर कृत्य गाधेय रोष लोचन समरुण,
ऋषि पर कर रहा प्रयुक्त दिव्य आयुध दारुण।
आग्नेय पवन पार्जन्य पाशुपत बन वारुण,
नारायणास्त्र ब्रह्मास्त्र, सार्प शिखि गरुण तरुण॥

इन सब शस्त्रों को ब्रह्मदंड पर रोक रोक,
कर रहे भूप को उत्तेजित मुनि टोक टोक।
करता कुलाल जो कलश व्यवस्थित ठोक ठोक
निज तपो भार्ष्ट्र में भूप शस्त्र तृण दिया झोंक॥

ज्यों ज्यों नृप क्रुद्ध कराल शस्त्र इष्वास तान,
करता प्रयुक्त मुनिवर पर कालानल समान।
त्यों- त्यों अकलान्त नितान्त शान्त समतानिधान,
करते निष्फल मुनि ब्रह्मदंड से सावधान॥

कर ब्रह्मदंड मारुत से विघटित शस्त्र घटा,
मुनिवर ने आश्रम संकट पल में दिया मिटा।
नृप कौशिक का गुरुगर्व महाद्रुम निकर कटा,
कहते तापस जय जय मुनि किंचित हिला जटा॥

हो गई प्रमोदित प्रकृति दिव्य दुन्दुभी बजी,
बरसे प्रसून सुर विवुधवधू आरती सजी।
कौशिक कराल कटु कुमति पराजित अधिक लजी,
वर ब्रह्मदंड सम्मुख नृप ने नीचता तजी॥

हिमहत सरोज सा शुष्क बदन विवरण उदास,
नृप हुआ स्विन्न तनु क्लिन्न खिन्न मन से उदास।
उच्छ्वास सहित लौटा श्री हत बिगताभिलाष,
बस ब्रह्मदंड दीखता उसे ज्यों मृत्युपाश॥

सोचने लगा मणिहीन सर्प ज्यों नृप निर्बल,
धिक्कार क्षत्रबल धन्य ब्रह्मकुल तेजोबल।
एक ब्रह्म दंड ने तूलराशि ज्यों प्रबल अनल,
मेरे सुशस्त्र दिव्यास्त्र सकल कर दिये विफल॥

यथा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलं।
एकेन ब्रह्मदंडेन सर्बास्त्राणि हतानि मे॥

हत सैन्य भग्न दिव्यास्त्र भूप फिर कानन में,
तप हेतु गया तपता प्रतिशोध हुताशन में।
आये वशिष्ठ तब लौट प्रसन्न निजायन में।,
अब हुई उपस्थित अरुन्धती प्रमुदित मन में॥

द्रुतविलम्वित

रमण का अभिषेक दृगश्रु से,
कर लगा उर से निज नाथ को।
बदन को ढक अंचल से सती
निरखती अनिमेष अरुन्धती॥

* श्री राघवः शन्तनोतु *

●

अष्टम सर्ग

क्षमा

उस ओर नृप मन से नहीं ज्वाला बुझी प्रतिशोध की
लपटें भयंकर उठ रहीं जिसमें वशिष्ठ विरोध की;
इस क्रूर कर्म हुताश का होगा अहो परिणाम क्या ?
इतिहास में अब कौन सा अध्याय है विधिवाम का ?

नक्तं-दिवं ज्यों उर अवाँ में अग्नि धू-धू जल रहा
कितना भयंकर ताप हा ! अविराम गति से पल रहा;
विज्ञान समिधा का हवन जिसमें नृपति था कर रहा
यह कौन जाने तप, उताहो ताप कौशिक का महा ?

धिग् क्षत्रकुल बल सुबल है यह ब्रह्मतेजो बल महा
मेरे सभी दिव्यास्त्र जिसने कर दिये निष्फल अहा;
दुर्धर्ष कालानल सरिस वह ऋषि वशिष्ठ अखण्ड है
वह ब्रह्मदण्ड नहीं, नहीं वह काल का ही दण्ड है।

ब्रह्मत्व के आगे निरन्तर शक्तियाँ झुकतीं सभी
वर्चस्व चुम्बक पर सदा अभिव्यक्तियाँ रुकतीं सभी;
जिस ब्रह्मकुल को है जिलाता एक अद्‌भुत त्याग ही
धरता अलौकिक शक्ति जग में विप्र का जप याग ही।

निष्काम गायत्री यजन संध्या विहित संकल्प से
ब्राह्मण जगत को दूर रखता सर्वथैव विकल्प से;
अतएव हरि ने भृगुचरण को वक्ष का लांछन किया
असुरेन्द्र बलि ने शीश पर भी विप्र पादोदक लिया।

मैं भी तपोबल से करुँ अधिगत उसी वर्चस्व को
बन विप्र फिर कम्पित करुँ विधि पुत्र तप सर्वस्व को;
पुरुषार्थ बल पर मैं कदाचित् विधि विधान मिटा सकूँ
वर्ण-व्यवस्था कर्मणा यदि यह प्रमाण बना सकूँ।

इतिहास मेरे पूर्व कल्मष भूल जायेगा सभी
पुरुषार्थ गाथा यह नहीं मन से भुलायेगा कभी;
क्षत्रिय प्रकृति को नष्ट कर विप्रत्व ले इस देह में
ब्रह्मर्षि का आनन्द लूँ बसकर स्वनिर्मित गेह में।

पर जन्मना वर्ण व्यवस्था ईश्वरीय विधान है
क्या सिंह बन पाता कभी कर यत्न शत्-शत् स्वान है;
अभिषिक्त हो मृगराज पद पर अल्पबल जम्बुक अरे
किस भाँति द्विरद वरूथ का निर्भिन्न गण्डस्थल करे।

संस्कार के आधार पर किस भाँति मिट्टी का घड़ा
बन कर सुनहला पात्र जग में मूल्यभाजन हो बड़ा;
अतएव प्राक्तन जन्म फल शुभ-अशुभ के अनुसार ही
सर्जित हुआ है ईश द्वारा यह विषम संसार ही।

बस-बस समझ में आ गयी कुंजी मुझे पुरुषार्थ की,
पद्धति बनी मेरी यही लोकातिशय परमार्थ की।
करके तपस्या उग्र मैं गाथा रचूँ परमार्थ की,
कर दूँ समाप्त विडम्बना पुरुषार्थ संयुत स्वार्थ की।

मेरा जनन भार्गव ऋचीक् प्रदत्त चरुवर से हुआ,
अतएव गर्भाधान तनु का विप्र के कर से हुआ;
पर क्षत्रियाणी कुक्षि सम्भव देह मल कैसे हरुँ?
यह क्षेत्र दूषण हा विधाता ! दूर अब कैसे करुँ?

इस तीव्र तप की अग्नि में कर भस्म क्षेत्रज दोष मैं,
पाऊँ परम ब्रह्मर्षि पद पुरुषार्थ शुचि संतोष मैं।
कुछ भी असम्भव इस जगत में है नहीं पुरुषार्थ को,
झुकना पड़ा शतबार जिसके सामने परमार्थ को।

ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति इस अवमान का प्रतिशोध है
बनना शिरोमणि ब्राह्मणों का ही वशिष्ठ विरोध है;
उद्देश्य यह रख दृष्टि में वे उग्र तप करने लगे
निज साधना से इन्द्र के भी धैर्य को हरने लगे।

भेजी पुरन्दर ने तुरत मेनका नामक अप्सरा,
जिसने तपस्वी का तपोबल निमिष में आकर हरा।
कुबलय कटाक्षों से प्रथम मुनि चित्त-वित्त चुरा लिया,
भुज वल्लिका के पास में फिर बाँध निघ्न बना लिया।

मुनि ब्रह्मदण्ड नहीं जिसे था पूर्व दण्डित कर सका,
नारी नयन शर से वही मन बिद्ध हो अतिशय थका।
बस एक नूपुर की छनक ने भ्रष्ट कर दी साधना,
बस मेनका मन में न कामी की इतर अराधना।

होती यहाँ इस भाँति सूखे ज्ञानियों की दुर्दशा,
वह कौन नर जिसको न माया सर्पिणी ने आ डसा।
वस्तुतः यह जगदीश माया दुर्विभाव्य दुरन्त है,
निःसीम निर्मम निघ्न निर्दय निम्न नीच नितान्त है।

जो तोड़ ममता शृंखला जगदीश की लेकर शरण,
करता सदैव अनन्य मन रघुचन्द्र का मंगल स्मरण।
निर्लिप्त पद्म पलास सा बन मेदिनी का आभरण,
वह संत करता सरल ही माया सरित का संतरण।

जो उग्र धन्वा जीत जग को, विजय का डंका बजा,
होकर अदन्ड्य अखण्ड बल अपना चतुर्दिग् यश सजा।
वह आज हलकी सी मधुर मुस्कान से दण्डित हुआ,
पल मध्य में ही मेनका दृगकोण से खण्डित हुआ।

बनता युगों में जो बिगड़ता है निमिष में ही वही,
उन्नति पतन का नियम जग में सत्य शाश्वत है यही।
कितने समय में विटप बढ़कर सुफल पूर्ण हुआ खड़ा,
पर निमिष में झंझा झकोरों से वही हा गिर पड़ा।

विश्वास साधक को कभी मन का न करना चाहिए,
चंचल तुरंग की रश्मि को कसकर पकड़ना चाहिए।
है हार मन की हार मन की जीत शाश्वत जीत है,
वह भोगता है जन्म भर इसका बना जो मीत है।

कर विघ्न तप में मेनका सहसा अमर पुर को गयी,
इस ओर कौशिक चित्त में चिंता चिता व्यापी नयी।
निर्विण्ण माथे हाथ धर कौशिक लगे अब सोचने,
उर पीट असकृत आत्मकृत पर, नयन वारि विमोचने।

हा हन्त ! वर्षों से समर्जित धूल में तपबल मिला,
हा हस्तिनी अब खा गयी सर में सरोरुह जो खिला।
क्या दोष अबला मेनका का इन्द्र के आधीन जो,
है दुष्ट मेरा मन स्वयं चंचल तरल स्वाधीन जो।

हा भूप होकर बन गया इन इन्द्रियों का दास मैं,
मारा गया वेमौत इनका कर लिया विश्वास मैं।
हा विश्वविजयी का विरुद मैं व्यर्थ ही ढोता रहा,
इन इन्द्रियों से जबकि असकृत विजित मैं होता रहा।

कायर न बन अब विश्वरथ पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर,
पुरुषार्थ पावक ज्वाल में निज क्षेत्र के सब दोष हर।
फिर उग्र तप में निरत हो निर्विघ्न करके साधना,
ब्रह्मर्षि पद को पा, करा विधि पुत्र से अराधना।

इस भाँति निश्चय कर नृपति ने तप पुनः दारुण किया,
अग-जग चकित कर तेज से राजर्षि पद विधि से लिया।
अब ब्रह्म गायत्री मनोहर मंत्र का दर्शन हुआ,
दीर्घायु पा राजर्षि ने मख की सँभाली अब स्रुवा।

अब वषट्कार प्रणव क्रिया उद्गीथ साम सुमर्म को,
अधिगत किया ऋषि ने सकल सानन्द वैदिक कर्म को।
प्रतिशोध की ज्वाला परन्तु बुझा न सकी उपासना,
ब्रह्मर्षि पद बाधक बनी मुनि की यही दुर्वासना।

इस ओर इस इतिहास में कुछ पृष्ट और नये जुड़े,
अतएव घटना में कई तूफान भी आये बड़े।
यह दारुयोषा सी नियति चुपचाप तो रहती नहीं,
करती विविध प्रस्तुति किसी से कुछ कभी कहती नहीं।

अब विश्वरथ का नाम विश्वामित्र विश्रुत हो गया,
विप्रत्व का 'मिथ्याभिमान विधान प्रस्तुत हो गया।
अधिकार की मदिरा बनाती मनुज को मदमत्त है,
सामान्य की क्या बात, होता मान्य भी उन्मत्त है।

कोसल महीप त्रिशंकु सुरपुर सतनु जाने के लिए,
आया वशिष्ठायन् महाक्रतुका, सुदृढ़ निश्चय किये।
पर ब्रह्म सुत ने कह असम्भव भूप को ठुकरा दिया,
इस देह से सुरपुर न सम्भव व्यर्थ का निश्चय किया।

तब भग्न निश्चय भूप ने जा वृत्त कौशिक से कहा,
राजर्षि का प्रतिशोध पावक में, विवेकाङ्घ्रिप दहा।
याजक बनूँगा मैं स्वयं आश्वस्त यूँ नृप को किया,
तनु पात वर्जित भूप का सुरलोक प्रेषण व्रत लिया।

निज मंत्र द्वारा देह सह स्वर्गाभिमुख नृप को किया,
श्रुति के विरुद्ध निरख सुरों ने फेंक नरपति को दिया।
लटका त्रिशंकू बीच में इत का नहीं उत का नहीं,
असदाग्रही नर नीच की दुर्गति सदा होती यही।

अवलोक विफल प्रयत्न कौशिक क्रोध से अकुला गये,
अधिकार लिप्सा के वंशवद ज्ञान धैर्य भुला गये।
इस क्रोध ज्वाला के सलभ विधि पुत्र पुत्रों को बना,
फिर भग्न कर अपने सुतों को प्रबल हठ ऋषि ने ठना।

मैं रचूँ स्वर्ग नवीन जिसमें नृप त्रिशंकू नित रहे,
नूतन बनाऊँ देवता जिनसे सदा नृप सुख लहे।
इस स्वर्ग का प्रस्तुत करूँगा एक दिव्य विकल्प मैं,
ब्रह्मर्षिवर्य वशिष्ठ का भंजू सकल संकल्प मैं।

यह कह कुशा जल प्रोक्षणी ले ध्यान में बैठे तुरत,
अब हो गये मुनि नवल सुरपुर सर्जना में ही निरत।
अवलोकि मुनि का तेज नूतन सृष्टि की रचना विषम,
बोले विधाता बस करो सुत छोड़ दो यह अगम भ्रम।

तुम जीव होकर ईश की समता समीप्सा कर रहे,
करके अतिक्रम शास्त्र का प्रभु से न किंचित डर रहे।
जग सृष्टि का व्यापार तो बस ब्रह्म के आधीन है,
यह ईश पंचक क्लेश वर्जित निर्विकार नवीन है।

बस रोक दो नव स्वर्ग रचना पाप संग्रह छोड़ दो,
ब्रह्मर्षि पद हित तप करो कौशिक दुराग्रह मोड़ दो।
जब तक रहेगी चित्त में प्रतिशोध की झंझा महा,
जब तक ढहेंगे फल सभी मुनि मान लो मेरा कहा।

विधि वचन सुन ऋषिरोष तज फिर लीन तप में हो गये,
प्रतिशोध के उगने लगे उर में प्ररोह नये-नये।
तपते हुए अवलोक ऋषि को लोकपाल सभी डरे,
धूमिल हुए अब अंशुमाली देवगण अतिभय भरे।

रम्भोरु रम्भा को तुरत सुरराज ने प्रेरित किया,
मुनिवास पुष्कर में झटिति पग पुष्कराक्षी ने दिया।
लावण्य की सीमा तरुणि मंजीर मृदु झंकार से,
मुनि मन विलोड़ित कर रही यौवन सुलभ श्रृंगार से।

नंदन कुसुम गुंफित चिकुर मादक मधुव्रत सहचरी,
नर्तन लगी करने मधुर मुनिराज सम्मुख सुन्दरी।
मारुत मलय मन्मथ मथित मन ध्यान तज कौशिक जगे,
दृग चषक से रम्भा मुखाम्बुज मधुर रस पीने लगे।

पुष्कर पवन पुष्कर नयन पुष्कर विपिन का भृंगवर,
लख पुष्कराक्षी बदन पुष्कर हो गया अतिशय मुखर।
तज मौन परिचय पूछ उसका वास कुटिया में दिया,
घृत ज्यों घृताची अग्नि ने कौशिक हृदय द्रुत कर लिया।

कैसी विधाता की प्रकृति संसार की कैसी कथा,
सर्वस्व खोकर भी जहाँ मुनि सुख विलुण्ठित सर्वथा।
यह वासना मदिरा अहो नर के पतन का हेतु है,
जो भग्न कर देती निमिष में संकल्प संयम सेतु है।

सचमुच समस्त उपद्रवों की जड़ यही निज दृष्टि है,
भाषित इसी में हो रही निर्दोष दूषित सृष्टि है।
वस्तुत: परमेश्वर रचित कितना अनूठा सर्ग है,
जिसमें मनुज पाता सदा त्रैवर्गयुत अपवर्ग है।

रम्भा प्रणय रस मग्न मुनि मन में उगे अंकुर नये,
दिन-रात की सुस्मृति नहीं, दस वर्ष दस पल सम गये।
जब-जब प्रणयिनी माँगती अनुमति गमन हित सुर भवन,
तब-तब चरण गह रोकते उसको अतीव अधीन बन।

पर भोग शाश्वत है नहीं, शाश्वत न विषयानन्द है,
इसमें मनुज फँस मर रहा ले शीश पर दु:ख द्वन्द्व है।
अज्ञात ऋषि को छोड़कर सहसा गई रम्भा जभी,
चिर सुप्तज्ञान विवेक कौशिक हृदय में उमगा तभी।

हा हन्त नारी प्रणय कैसे स्वप्नवत् यह हो गया,
मेरा पुन: चिरकाल सम्भृत शुचि तपोबल खो गया।
शैली बनी दुष्टे कुपित यूँ शाप रम्भा को दिया,
संकल्प कर फिर उग्र तप से तुष्ट ब्रह्मा को किया।

जागो महर्षे ! बचन कह वरदान दे ऋषिराज को,
धाता गये निज लोक धीरज दे सुरेन्द्र समाज को।
पर गाधिसुत का क्या अभी सपना हुआ साकार है,
ब्रह्मर्षि पद के बिना प्राप्त महर्षि पद बेकार है।

ब्रह्मर्षि वर्य वशिष्ठ कौशिक को कहें ब्रह्मर्षि जब,
पूरा हुआ माने जगत ब्रह्मर्षि पद गन्तव्य तब।
पर क्षत्रियोचित वासना इनकी अभी अवशेष है,
अतएव विप्र वशिष्ठ का प्रामाण्य अब तक शेष है।

कौशिक महा क्रोधाग्नि में शत सुत शलभ मुनि के बने,
सुन कर कथा यह भी न मन में क्रोध के अंकुर जने।
पवि उर विदारक श्रवण कर निर्दोष पुत्रों का निधन,
विचलित नहीं दम्पति हुए मन में क्षमा को मान धन।

नीरन्ध्र नीरज नेत्र जल से दे करुण सलिलांजलि,
मानी क्षमा को ही पिता ने मृत तनय श्रद्धांजलि।
निर्दोष पुत्रों को दहन सुन रोक अश्रु अरुन्धती,
चुपचाप पीकर रह गयी करके क्षमा साध्वी सती।

मृत बालकों की विप्र दम्पति साम्परायिक कर क्रिया,
एकान्त में देते रहे गाधेय को ही सत् क्रिया।
हे ईश कौशिक का हृदय शीतल क्षमा से शुद्ध हो,
प्रतिशोध से वर्जित विमल विज्ञान अब प्रतिबुद्ध हो।

ब्रह्मर्षिवर्य वशिष्ठ की गाथा अतीव मनोरमा,
इतिहास की सम्भृति बनी उनकी बिबुध दुर्लभ क्षमा।
हैं धन्य पुण्य पतिव्रता महनीय देवि अरुन्धती,
जिनकी बनेंगी पूजिका साक्षात क्षमा सीता सती।

*** श्री राघवः शन्तनोतु ***

●

नवम सर्ग

शक्ति

नारी तुम शाश्वत शक्ति सनातन नर की
तुम आदि कल्पना पावन परमेश्वर की।
तुम दिव्य जीवनी मंगलमय जीवन की,
तुम मधुर भावना मही सुभावुक जनकी।

तुमने निर्मित की मानव की परिभाषा
पर समझ न पाया कोई तेरी भाषा।
आशा की किरण तुम्हीं से समुदित होती
तुमसे पाता है अग-जग अद्‌भुत ज्योति।

तुम सर्ग सर्जना शक्ति प्रकृति की सर्वस
तुम पृथ्वी की हो सुरभि और जल का रस।
पावक की दाहक शक्ति वायु का बल तुम
अविकार्य शब्द गुण नभ का हो निर्मल तुम।

तुम हो शशाङ्क की ज्योत्सना रवि की आभा
तुम सन्ध्या की अरुणिमा उषा की शोभा।
सुषमा तुम व्रततिवृन्द की खग कुल कूजन
मादकता तुम मधुरस की मधुकर गुन्जन।

तुम रस का स्थायी भाव रसेश्वर की रति
तुम भावों का सुस्फुरण साधकों की गति।
तुम साधन की हो मूल मुमुक्षु मुमुक्षा
उद्दीपन की उद्दीप्ति विचित्र बुभुक्षा।

तुम शुभे शक्ति साकार प्राणदायिनी हो
तुम भद्र भक्ति अवतार समनुपायिनी हो।
तुम इतिहासों के पृष्ट तुम्हीं हो अक्षर
तुम हो प्रबन्ध तुम वाक्य शब्द अविनश्वर।

तुम कलाकार की कला गीत का सरगम
तुम हो तन्त्री का तार रागिनी उद्गम।
तुम जीवन का संगीत कल्पना तुम हो
तुम चित्रकार का चित्र अल्पना तुम हो।

तुम हो कवि की प्रेरणा तुम्हीं मृदु कविता
है समुदित तुमसे ज्योति प्राप्त कर सविता।
नर नौका की पतवार चालिका तुम हो
व्रत निरत यती की नियम पालिका तुम हो।

नर जीवन का आपत्ति निवारण तुमसे
केन्द्रित होता है मानस वारण तुमसे।
संकल्प शुद्धि का केन्द्र तुम्हीं हो नर की
वर्णिनी तुम्हीं हो भद्रे ! अभिनव वर की।

तुम एक अलौकिक तृप्ति प्रीति वसुधा हो
तुम हरती विषय क्षुधा मनोज्ञ सुधा हो।
मानो पवित्रता हेतु तुम्हीं हो गंगा
चारित्र्यमूर्ति तुम प्रतिभा अमल असंगा।

तुम ऊर्जा ऊर्जस्वला दिव्य विद्युत हो
जग मंगल के ही हेतु शक्ति प्रस्तुत हो।
अणु-अणु में अणुप्राणित हो सृष्टि चलाती
तुम प्रकृति सुन्दरी सन्तत मोद मनाती।

तेरी अवलम्बन बिना ब्रह्म भी निर्गुण
किस भाँति प्रकट कर सके सुमंगल सद्गुण।
निष्क्रियता परमात्मा की तुम्हीं मिटाती
आविष्ट उन्हीं में हो लीला करवाती।

हरि अवतारों का प्रमुख तुम्हीं हो कारण
हे शक्ति तुम्हीं करती आसक्ति विदारण।
सचमुच यदि शक्ति विशिष्ट न होते ईश्वर
कैसे मिलते भक्तों को विविध देह धर।

सम्बन्ध निबन्धन ऐक्य शक्ति से प्रभु का
अद्वैत अनिर्वचनीय शक्ति और विभु का।
जो सर्वतन्त्र निजतन्त्र शक्ति के बस हैं
वितरण करते अतएव जगत को रस हैं।

अनुभूति ब्रह्म की तुम्हीं सृष्टि निर्मात्री
तुम भूमा की भूमता प्रपञ्च विधात्री।
मात्रा स्पर्शों की मूल प्रभा तुम रवि की।
तुम साम स्वर संगीत कल्पना कवि की।

माया तुम हरि की शिव की हो शर्वाणी
तुम दिव्य विधित्सा ब्रह्मा की ब्रह्माणी।
अग-जग यह यावन्मात्र भासता भास्वर
सब में हो व्याप्त शक्तिरुपिणि अविनश्वर।

तुम मूर्त-शक्ति साकार रूप हो नारी
परमेश्वर करते नमन मान महतारी।
इस परुष पुरुष ने तुझे नहीं पहचाना
नारी को एक बुभूक्षा साधन माना।

सचमुच यह निर्दय पुरुष प्रधान जगत है
उन्नत नारी भी जहाँ बनी अवनत है।
पति बनकर करता रहा पुरुष ही धर्षण
पत्नी ने उसको दिया दिव्य उत्कर्षण।

बन क्षमा अहो ! आधार जगत का बनती
परमेश्वर को भी समय-समय पर जनती।
फिर भी क्यों नरक खान कहते नारी को
हा ! क्यों अवमानित करते बेचारी को।

वस्तुतः नहीं कोई अरि जग में इसका
नारी है नाम प्रसिद्ध इसी से इसका।
यह नहीं नरक की खान सदा अविकारी
नारी है नारायण की भी महतारी।

"सन्ततं नास्त्यरिः यस्या सैषा" नारी
वैयाकरणों ने यह सुनिरुक्ति विचारी।
अक्षरशः है यह सत्य निरुक्ति विचारो
निर्दोष नयन से नारी अंग निहारो।

देखो युग जलज पत्र पर गज क्रीड़ा रत
करता न प्रधर्षण कभी सदा व्रीड़ा नत।
कदली का करता है केहरि परिरम्भण
करि से न उसे सपने में भी संरम्भण।

सर ढिग उपत्यका युगल लसित दो गिरिवर
असिताग्र श्वेत सरसीरुह विकसित जिन पर।
जाह्नवी धार के बीच कपोत बिराजे
कोकिल बिम्बाफल साथ दाडिमी भ्राजे।

राकेश चारु चपला का जिसमें संगम
सचमुच नारी की सृष्टि अपूर्व अनूपम।
समरुण रसाल फल जहाँ कीर से अक्षत
खञ्जन शावक को धनुष नहीं करता क्षत।

शशि और वारिधर का साहचर्य जहाँ है
रवि तिमिर सर्प शिखि का सौन्दर्य जहाँ है।
चातक चकोर की जहाँ बनी है जोड़ी
बक हंसो ने भी नहीं प्रीति को छोड़ी।

कैसी अनुपम नारी की सृष्टि मनोहर
विधि भी न कभी जिसकी पाया तुलनाकर।
निर्बैर सृष्टि का यही भव्य है चित्रण
मानव की मनोबुद्धि का यह सम्मिश्रण।

तुम स्वयं शक्ति होकर अवला कहलाती
क्यों हो अपना अद्‌भुत ऐश्वर्य छिपाती।
होकर कठोर दिखती तुम क्यों हो कोमल
निश्चल होकर भी लक्षित क्यों हो चंचल।

बाहर से तेरा रूप विलासित दिखता
वस्तुतः योग योगी भी तुमसे सिखता।
भारत में तुम हो शक्ति स्वरूप प्रतिष्ठा
है अनिर्वाच्य अद्वैत तुम्हारी निष्ठा।

तुम एक, चार रूपों से जग में आकर
माँ, बहन, सुता, पत्नी का धर्म निभाकर।
तुम दीपशिखा सम दिवारैन जल-जल कर
जग में भरती आनन्द स्वयं ढ़ल-ढ़ल कर।

तुम अरुन्धती ही नहीं देवता मेरी
सुर ललनायें भी बनी तुम्हारी' चेरी।
तुमने वशिष्ठ को भी सौभाग्य दिया है
विनिमय में उसके त्याग विराग लिया है।

इन गहन विचारों में मन ही मन खोये
मुनि बैठे उटज मध्य थे मानो सोये।
निस्तब्ध जलधि सा शान्त दान्त तेजस था
उन्नत कपोल पर उमड़ रहा ओजस था।

तब तक अरुन्धती मुनिवर के ढ़िग आई
धीरे-धीरे कुछ-कुछ मन में शरमाई।
प्रेमाश्रुपूर्ण थे उसके कञ्ज दृगञ्चल
जिसे ढाँक रहा था किञ्चित् सिर का अञ्चल।

आकर देवी ने मुनि को तनिक हिलाया
अन्तर तारों से मन के तार मिलाया।
चकपका उठे ऋषि तुरत खुली दृग पलकें
लटकी कपोल पर सहज हठीली अलकें।

देखा वशिष्ठ ने सम्मुख अरुन्धती को
वरिवश्यारत धृत शक्ति शरीर सती को।
तन तपः पूत मस्तक पर सिन्दुर रेखा
ज्यों खेल रही सौभाग्य चन्द्र वसु लेखा।

बोली वनिता क्या सोच रहे मुनिनायक
विश्रब्ध रहें अब तजें शोक भयदायक।
संसार सार से हीन जन्म मरणों का
आगार यही दुष्पार प्रिय स्मरणों का।

दुःखालय कह स्मृतियों ने इसे पुकारा
सर्वत्र दीखती यहाँ भयंकर कारा
सुख-दुःख का मिश्रण विधि ने इसे बनाया
विष अमिय घोलकर अग-जग को भटकाया।

निज कर्म विवश सुख-दुःख भोगकर प्राणी
तरते भवाब्धि, पा विमल बुद्धि कल्याणी।
बन राज-हंस चुनते मौक्तिक ज्यों श्रेयस
तज देते भोग असार, सींक सम प्रेयस।

संयोग वियोग न रहें निरन्तर सुस्थिर
रह जाता है उनका संस्मरण यहाँ चिर
सुस्थिर है केवल परमेश्वर की सत्ता
उसका चिन्तन ही नर की एक महत्ता।

यह आवागमन बुदबुदा सम है जग का
यह खेल अतर्कित अहो विधाता ठग का।
सबको करता यह ग्रास किसी न किसी दिन
सोचते नहीं अतएव तदर्थ सुधी जन।

यह मोह विटप वैराग्य खड्ग से काँटे
निज ज्ञान भानु से ममताघन को छाँटे
तज भूत निरख कर वर्तमान संचित का
निर्माण करें, तज ध्यान आप अनुचित का।

क्या मुझको ममता नहीं नाथ पुत्रों की
क्या लता उपेक्षा करती निज पत्रों की।
पर अब यह अवसर नहीं हमें रोने का
आया है अब यह समय सजग होने का।

अब बीत गई वह ग्रीष्म निशा अति काली
आयी पावस ऋतु छिटक रही हरियाली।
हो वसुधा पुनः उर्वरा पा वारिधि जल
हो शक्तिपूर्ण बीजारोपण अति निर्मल।

जिसकी शाखायें फैल प्रसन्न चतुर्दिक
अब करें समुन्नत दैव सर्ग आरम्भिक।
इतिहास वाटिका जिस प्रसून को पाकर
होवें कृतकृत्य जिसे आत्मीय बनाकर।

-: गीत :-

बसायें आर्य ! नया संसार।
जहाँ न आँसू की झड़ियाँ हों अखिल अमंगल सार॥
जहाँ न हो सुख दुःख की खाई, जहाँ न हो भय की परछायीं।
जहाँ जलधि चूमता क्षितिज को, तजकर भेद अपार॥
जहाँ न कोई रहे पराया, जहाँ किसी को ठगे न माया।
जहाँ प्रकृति हो शस्य श्यामला सदा बसन्त बहार॥
जहाँ कोकिला का कूजन हो, जहाँ मधुप का मृदु गुन्जन हो।
जहाँ निराशा की तोड़े मानव ऊँची दीवार॥
जहाँ वेद प्रतिपाद्य धर्म हो, जहाँ मनुज का चरित वर्म हो।
हम सौंपे भावी समाज को अब ऐसा उपहार॥

× × ×

हे देव ! आपको धर्म नहीं समझाती
केवल भवदीय वचन का स्मरण कराती।
करना है प्रकट हमें निज वंश प्रवर्तक
सम्पूर्ण शक्तिमय पुत्र शास्त्र अनुवर्तक।

सुन प्रिया वचन आश्वस्त हुए विधिनन्दन
बोले सस्मित मुख मुदित ब्रह्मकुल चन्दन।
भद्रे ! तुमने सन्मार्ग मुझे दिखलाया
जीवन का मधुर रहस्य मुझे सिखलाया।

वस्तुतः अरुन्धती अद्वितीय तुम नारी
तेरा होगा संतत इतिहास पुजारी।
अनुरक्ति भक्ति से शक्ति पूर्ण विग्रहणी
भारत ललना आदर्श सनातन गृहिणी।

-: गीत :-

देवता तुम दिव्यता की प्रणत की परिणति तुम्हीं हो।
शिष्टता तुम सौम्यता की विरति की अनुरति तुम्हीं हो।
वाटिका मञ्जुल सुखों की सुमति की परिमिति तुम्हीं हो।
साधना श्री राम की घनश्याम की अनुमिति तुम्हीं हो।
दयित की तुम सफल गृहिणी भाग्य की तुम रम्य रेखा।
वस्तुतः सत्संग मृदु पीयूष की तुम इन्दु लेखा।

तुम मिलन की रागिनी हो सुरभि हो तुम वाटिका की।
मधुप की हो रसिक कलिका हंसिनी हो वापिका की।
तुम लड़ी हो मोतियों की मैं सरसतम ताग बांका।
मैं नभस्तल का निशाकर तुम शरद की मधुर राका॥

× × ×

आश्वस्त हुई अतिशय परितोषित पतिका
सुर तरु आलिङ्गित हुई सुमन हित लतिका।
आया बसन्त फिर दम्पति के जीवन में
घोली मधुरस कोकिला मधुर कूजन में।

चाँदनी चन्द्र की छिटक-छिटक अम्बर में
भर रही शुद्ध मधुरस प्रफुल्ल मुनिवर में।
बोले तिरछे अवलोक शान्त क्यों भामिनी
बेरुखी चन्द्र से करती हैं क्यों यामिनी।

—: गीत :—

बेरुखी इस भाँति है क्यों ?
परम मृदु पाटल पटल पर यह अंधेरी रात है क्यों ?
शान्त इस नीरव गगन में ध्यान में तल्लीन हो क्यों ?
किस अभूत प्रतीक्ष के गुणगान में लयलीन हो यों ?

हा अरुण नलिनी सुदल पर यह विषम हिमपात है क्यों ?
बेरुखी इस भाँति है क्यों ?

आज लख दिन मणि विभा को क्यों न छाया गुनगुनाती ?
देख पूर्ण शशांक को भी क्यों न राका मुस्कुराती ?
इस सुनहरी शर्वरी में यह विचित्र प्रभात है क्यों ?
बेरुखी इस भाँति है क्यों ?

मूक इस चिन्तन परिधि में वेदना अतिरिक्त कैसी ?
स्निग्ध सुस्मृति आ पगा हो वीचि कुल से रिक्त जैसी।
सच कहो मुखड़ा छिपाता मधुप से जलजात है क्यों ?
बेरुखी इस भाँति है क्यों ?

× × ×

आलम्बन, उद्दीपन, विभाव रस सम्भव
हो गया प्रकट रसराज लसित सुमनोभव।
तब अरुन्धती ने जना सुभग गुण मंदिर
सम्पूर्ण शक्तियुत शक्ति नाम शुचि सुन्दर।

सुरगन ने नन्दन पुष्प मुदित बरसाये
सुर ललनाओं ने गीत सुमंगल गाये।
बाजी नभ आश्रम में फिर सुघर बधाई
ऋषिकुल में फिर से सुखद शरद ऋतु आई।

मुख चूम पुत्र का अरुन्धती सुख फूली
ले गोद तनय आनन्द हिड़ोल में झूली।
सुन सुत का जन्म वशिष्ठ अधिक हरषाये
चिरकाल वियोजित शक्ति मनो फिर पाये।

शैशव रसकेलि सुधा से शिशु का पालन
दम्पति करते अविराम तनय का लालन।
माता अंचल से ढाँक वत्स का आनन
पय पान कराती परम प्रेम पुलकित तन।

शैशव अतीत कर शक्ति कुमार हुआ जब
अवलोक रूप अति मोहित मार हुआ तब।
उपनीत पुत्र ने पा गायत्री दीक्षा
ली पूज्य पिता से ही सब वैदिक शिक्षा।

गृहमेधी शक्ति हुए फिर वंश प्रवर्तक
गोत्रों का कर उद्धार वेद अनुवर्तक।
उनसे प्रकटे ऋषि रत्न पुत्र पाराशर
जिनसे वशिष्ठ कुल ने पाई शुषमावर।

जिसने पुराण मुनि व्यास पुत्र उपजाया
कलि कामधेनु स्मृति रत्न विचित्र बनाया।
कलियुगी जीव के लिए धर्म का निर्णय
पाराशर की स्मृति ख्यात हुई मंगलमय।

कौशिक मन का प्रतिशोध अभी भी सक्रिय
जिससे हो चुके, अनेक बार वे निष्क्रिय।
ब्रह्मर्षि वशिष्ठ न कहते मुझे अभी भी
मैं रहने दूँगा सुखी न उन्हें कभी भी।

यह सोच मंत्र से प्रेरित किया निशाचर
खा गया शक्ति को उटज मध्य वह आकर।
उजड़ा ऋषिकुल सर्वस्व हो गया स्वाहा
हाहाकारों का स्वर बन में था हा हा।

कौशिक क्रोधानल में हुत शेष हुआ सुत
फिर भी न हुए दण्डार्थ ब्रह्म सुत प्रस्तुत।
साकार शक्ति अब निराकार तनु पाया
यह जान न दम्पति मन में व्यापी माया।

पाराशर हुये सरोष नयन अरुणारे
राक्षस विनाश हित मख के हेतु पधारे।
अवलोक बाल हठ ऋषि पुलस्त्य तब आये
अपने संग ऋषि सत्तम वशिष्ठ को लाये।

बोले वशिष्ठ सुत तजो शिशूचित आग्रह
तुमको न उचित, ब्रह्मर्षि पौत्र रिपु निग्रह।
क्या व्यष्टि दोष से दुष्ट समष्टि सुनी है
मिर्ची के कण से कड़वी सृष्टि सुनी है।

निज कर्मों का परिणाम जीव पाता है
उसको न सताता जगती का नाता है।
तेरे भी पूज्य पिता निज कृत के फल से
हो गये भस्म कौशिक के क्रोधानल से।

यह कर्म बन्ध अनिवार्य विचार विचक्षण
इसकी गति अकथ अनन्त विचित्र विलक्षण।
अतएव मान विधि की विडम्बना बालक
तज शोक बनो वाशिष्ठ वंश प्रतिपालक।

कह एवमस्तु पाराशर ने फिर तत्क्षण
कर दिया रक्षनाशक शुभ यज्ञ विसर्जन।
नभ हुआ शान्त चल रहा समीरण शीतल
हँस पड़ी नियति अभिराम हुआ जगतीतल।

बोले वशिष्ठवर वचन पौत्र मुख को छू
हे वत्स ! वंशधर धन्य-धन्य मेरा तू।
रच विष्णु पुराण संहिता यश पाओगे
निज धवल कीर्ति से अगजग सरसाओगे।

हे पौत्र शक्ति के पुन्ज पिता थे तेरे
आज्ञाकारी सुत रत्न प्राण प्रिय मेरे।
देवी अरुन्धती के लघु ललन दुलारे
स्मृति शेष रह गये मुनि कुल के उजियारे।

तुम पर निर्भर है आशा किरण हमारी
अब तजो रोष आक्रोष बाल हट भारी।
हिंसा का उत्तर पौत्र नहीं प्रतिहिंसा
उसकी शामक है एक असीम अहिंसा।

अब पिता तुम्हारे सूक्ष्म रूप कण-कण में
हो गये समाहित शक्ति रूप त्रिभुवन में।
वे नहीं शोच्य अब तुमसा पुत्र प्रकट कर
स्मरणीय हो गये वेद कर्म उत्कट कर।

देखो अग-जग यह एक शक्ति से चलता।
अज्ञात शक्ति द्वारा ही क्षण-क्षण पलता।
यह क्षमा शक्ति हम विप्रों का भूषण है
आशक्ति हमारे लिए महादूषण है।

निष्काम कर्म योगी बन प्रभु गुण गायें
अपने सत्कर्मों से हम उन्हें रिझायें।
वस्तुतः विहित निज कर्म ईश पूजन है
निष्ठा परिमल श्रद्धा ही सरस सुमन है।

हम ब्रम्हण अब संयम की शक्ति बढ़ायें
उससे ही शक्तिमान को झटिति रिझायें।
कौशिक जिससे स्वयमेव झुके चरणों में
बिखरे यह शक्ति विश्व के धूल कणों में।

सुन पितामहामृत वचन बहुत सुख पाये
पाराशर मुनि चरणों में शीश झुकाये।
दादी अरुन्धती का करके अभिनन्दन
पुलकित प्रसन्न हो गये शक्ति कुल नन्दन।

अवलोक तितीक्षा मुनि वशिष्ठ की भारी
व्रीड़ित कौशिक हो गये ब्रह्म व्रतधारी।
बोले महर्षि साश्चर्य धन्य विधिनन्दन
है धन्य-धन्य द्विज दम्पति निज कुल चन्दन।

अगणित पुत्रों का निधन विलोक नयन से
किंचित न वशिष्ठ हुए विचलित निज मन से
कर उग्र तपस्या तुष्ट करुँ अब उनको
साधना शक्ति सन्तुष्ट करुँ अब उनको।

तदनन्तर की आरम्भ सुतीव्र तपस्या
सुर चकित हुए अवलोक महर्षि नमस्या।
निर्धूम हुताशन सरित तेज आनन पर
फटने सा लगा सभीत वितत यह अम्बर।

हो गयीं दिशायें धूम्र विधाता आये
ब्रह्मर्षि उठो कह मुनि को तुरत जगाये।
बोले सुत माँगों क्षमा वशिष्ठ व्रती से
प्रतिशोध न तेरा उचित मुनीन्द्र यती से।

सुन विश्वामित्र वशिष्ठ भवन तब आये
कह पाहि-पाहि चरणों में शीश नवाये।
दे क्षमा दान कौशिक को गले लगाये
कहकर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ उन्हें समझाये।

जब तक सक्रिय था मुनि प्रतिशोध तुम्हारा
तब तक मैंने न तुम्हें ब्रह्मर्षि पुकारा
यह संयम शक्ति झुकायी मुनिवर तुझको
है इसी शक्ति पर कौशिक गौरव मुझको।

द्रुत विलम्बित

जगत की भवभीत विडम्बना
दलित हो इस संयम शक्ति से,
विमल भारत अम्बर में खिले
सरस मंगल शक्ति सरोज ही।

*** श्री राघव : शन्तनोतु ***

●

दशम सर्ग

—: उपराम :—

नियति ने उपराम अब प्रस्तुत किया
विप्र दम्पति के सरस इतिहास में,
प्रहर अब आगन्तु काम तृतीय था
दिवस के अभिराम इस अध्याय में।

क्या यही उपराम राम समीप की
रच रहा मंजुल मनोहर भूमिका,
शक्ति सुत अथवा निराकृति हो स्वयं
दे रहा उपहार यह स्मृति रूप में?

श्रवण गत कुछ कुन्तलों की श्वेतिमा
दे रही मुनि को मनो यह प्रेरणा,
सजग हो रच लो त्रिदिव सोपान को
वयस के इस चरम चारु विभाग में।

यदपि थी तिल मात्र भी मन में नहीं
तपन त्राशन मृत्यु भीम विभीषिका,
तदपि राम पदारविन्द मरन्द की
बढ़ रही उर में तृषा मुनिराज के।

तुरग सी त्वरितासमातुर इन्द्रियाँ
विरत थीं अब हो रही भव भोग से,
पथिक ज्यों निज लक्ष के सुसमीप जा
गमन का करता मनोज्ञ विराम है।

बित गयी मधुमास मन्जु विभावरी
क्षितिज में प्रकटा प्रफुल्ल प्रभात था,
अरुण की बिखरी चतुर्दिक लालिमा
उदित थी जिसमें चमत्कृत चेतना।

मलय मारुत मन्द-मन्द समीरणा
चलित चारु रसाल पल्लव लोलता,
जगत के क्षणभंगुरस्थितिबोध से
रच रही उपराम की रमणीयता।

तज स्वनिर्मित नीड़ की ममता मुधा
वियत में उड़ते विहंग वरूथ थे,
विरत हो गृह के प्रपञ्च कलाप से
चतुर साधक साधना रत हों मनो।

विकच पंकजिनी पराग प्रवाह को
मलय मारुत हो प्रसन्न परोसता,
श्रुति शिखामणि भक्ति की रस राशि ज्यों
परम वैष्णव हो उदार लुटा रहे।

रश्मि माली रश्मि-रश्मि समूह से
हिम कणाम्बु समेटता तृण पे पड़े,
पूर्व संस्मृति शेष को उपराम जो
वह विचारों में तिरोहित कर रहा।

खिल गयी सर में कमन कमलावली
मधुप मड़राते उसी पर जा सभी,
वर विराग प्रबुद्ध मेधा में मनो
सकल सद्गुण सहजता से आ बसे।

प्रकृति में अवलोक इस उपराम को
परम उपरत हो रहें द्विज दम्पती,
पौत्र पाराशर परिष्कृति कारिणी
प्रीति उनको थी उटज में रोकती।

निज विचारों में स्वयं खोयी हुई
पद्मिनी सर मध्य ज्यों अपराह्न की,
या मनोहर मूर्ति उपरति की बनी
थी उटज में लीन आज अरुन्धती।

शान्त था आकार आनन पद्म पर
था न सुस्मिति का तनिक आभास भी,
अधर पल्लव सम्पुटित दशनावली
दृष्टिगोचर आज थी होती नहीं।

था नहीं उन्मेष पलकों का तनिक
पक्ष्म भी निष्पक्ष हो पद चूमते,
पुतलियाँ निशि में मनो अलिनी जुगल
नयन नील सरोज कोश निलीन थी।

कुछ गये मुरझा मनो मुनि नारि के
श्रवण भूषण युगल फूल कनैल के,
अंचलावृत मुख अधःकृत भामिनी
शून्य मन से शान्त चित्त निसण्ण थी।

ढह गये थे काल्पनिक प्राकार भी
थे बने निष्क्रिय समस्त विचार भी,
स्वप्न के उजड़े हुए निज नीड़ में
विहगिनी सी निस्पृहा बैठी हुई।

परम नीरव विपिन का वातावरण
अधिक उसको कर रहा अन्तरमुखी,
पूर्व स्मृतियों का अनघ अवशेष यह
शेष रक्षण हेतु कुछ उतला रहा।

क्षितिज था कुछ शून्य सिन्धु गम्भीर था
पर न थी कल्लोल लोलायित वहाँ,
थी अमा की रात ज्यों उसके लिए
दूर थी अब ज्वार की सम्भावना।

द्रुहिण की यह दुर्निवार विडम्बना
यदपि दम्पति को न विचलित कर सकी,
तदपि जीवन के मधुर मधुमास में
ग्रीष्म ऋतु की भूमिका यह बन गयी।

आ गये सहसा महामुनिवर वहाँ
निज विचारों में सती खोई रही,
कर न पायी प्रणति अभिनन्दन क्रिया
नैन से ढिग बैठने को कह दिया।

इंगितग्य महर्षि प्रिया समीप ही
जा कुशासन पर विराजे शान्ति से,
दक्षता सह दक्ष दक्ष विभाग में
मग्न उपरति के अनूप तडाग में।

कुछ क्षणों में जब कथंचित देवि की
वृत्ति चिन्तन सिन्धु से बाहर कढ़ी,
तब सहजता से महर्षि वशिष्ठ ने
प्रश्न प्रश्रय पूर्ण पत्नी से किया।

देवि क्यों इस भाँति आज गम्भीर तुम
उठ रहे सुविचार मन में कौन ये?
उचित समझो तो कहो मुझसे शुभे
अमल मानस के नमस्य रहस्य को।

उन्मिषित किंचित नयन नत कंधरा
पति परायण सद्‌गुणाति वसुन्धरा,
तब कृतांजलि वचन यों कहने लगी
रुद्ध स्वर से रोक अश्रु अरुन्धती।

—: गीत :—

कहूँ मैं किससे मन की बात।
विधि विडम्बना नलिनी दल पर
अहो विषम पबि पात॥
दूर चन्द्र कोशों सागर से
केवल खन-खन ध्वनि गागर से
बिन्दु मात्र भी नहीं वहाँ जल
कैसा विषम विघात॥

मलय मरुत के मर्मर स्वर से
सरित सरोवर औ निर्झर से
लै उच्छवास सिसकियाँ भरकर
रोता आज प्रभात ॥
उजड़ा नीड़ व्यथित पक्षी कुल
जलद दरस हित केकि समाकुल
अहो चंडकर की किरणों से
सूख रहा जलजात ॥

× × ×

दयित मेरे पास अब क्या रह गया
सरस स्वप्निल सदन भी तो ढह गया,
हाथ खंडहर ही अभागिन के लगा
धधकती जिसमें अभी तक आग है।

शक्ति की साकारता कतिपय दिवस
नयन गोचर रह सकी विधि योग से,
योग्य थे पर हम न उस आनन्द के
छिन गया वह भी हमारे हाथ से।

वस्तुतः संसार यह निःसार है
सरकता अविराम गति से नित्य जो,
जनन मरण प्रवाह सिन्धु प्रवाह सा
ईश माया वश सदा चलता यहाँ।

जगत में सम्बन्धियों के नेह से
हम बंधे ज्यों कीर मरकट खो चुके,
अर्ध जीवन का समय मदमत्त हो
वयस का अब भाग आया तीसरा।

कर्णगत कच धवलिमा के व्याज से
कान में कहते यही संदेश हैं,
छोड़कर आसक्ति उपरत हो भजो
प्रेम से परमेश के पद पद्म को।

हम गृहस्थों के विविध आयाम भी
देख सुनकर अधिक उपरत हो चुके,
कष्ट ही तो है यहाँ सुख का प्रभो
लेशमात्र हमें कहीं दिखता नहीं।

लोग जिस सुख के लिए बेचैन हैं
वह परम सुख का किमपि आभास है,
मान जिसको सुख सभी होते सुखी
वह हरिण तृष्णा समान असत्य है।

बहुत दिन सोकर बिताये हम अहो
अब न सोयेंगे कभी निश्चेष्ट हो,
जग जगतपति के सुभग पद पद्म में
भ्रमर बनकर गुनगुनायेंगे सदा।

देखिये खग घोंसलों को छोड़कर
उड़ रहे नभ में यही संकेत दे,
छोड़ ममता शृंखला को जा करें
अब भजन भगवान का एकान्त में।

जो कमल के कोश में निशिभर मुदे
अब वही अलिवृन्द उड़कर जा रहे,
पा विमल उपराम ज्यों गृह को गृही
छोड़कर वन में चला बनने यती।

सब अनर्थों का यही आसक्ति ही
मूल है जननी यही भव सूल की,
इस महाविष वल्लिका को शीघ्र ही
ज्ञान असि से काट देना चहिए।

अब नहीं पतिदेव भव की वासना
है अपेक्षित एक ईश उपासना,
तोड़कर तृण ज्यों जगत जंजाल को
मुक्त हो अब हम भजें भगवान को।

भोग भोगी योग सम अति क्रूर हो
जीव को करते सदा भयभीत हैं,
भोगता न उन्हें मनुज प्रत्युत वही
मनुजता को भोग लेते हैं स्वयं।

कामनाएँ काम के उपभोग से
मिट सकेंगी क्या कभी भी हे मुने!
कृष्ण वर्त्मा सर्पिधारा से कभी
क्या बुझाया जा सके त्रयकाल में?

वस्तुतः झूठे जगत के ये सभी
नेह नाते सर्वदा भय हेतु हैं,
पड़ इन्हीं में भूल सहज स्वरूप को
जीव कारागार में आकर पड़ा।

अब हमें करणीय है सुख साधना
साधना आराधना आराध्य की,
लक्ष्य मानव देह का भी है यही
व्यर्थ हम इसको गँवाते हैं अहो।

बन्धु बान्धव सुहृद जन आसक्ति से
मलिन हमने चित्त दर्पण को किया,
दिख नहीं पाता अतः रघुनाथ का
रूप इसमें कोटि काम मनोग्य जो।

हम करें न विलम्ब अब इस कार्य में
पूर्ण कर लें शीघ्र निज दायित्व को,
पौत्र को अब सौंप कुलपति भार को
आप हों उन्मुक्त गेह प्रपंच से।

कर्म से सम्भव नहीं है कर्म का
ध्वंस ज्यों मल से मलों की क्षालना,
प्रेम भक्ति सुवारि से रघुचन्द्र की
छूटता यह मल मनुज के चित्त से।

अदृढ़ प्लव की भाँति कर्म भवाब्धि से
पार साधक को न कर सकता कभी,
ज्ञान नौका से हमें भव सिन्धु यह
नाथ है तर्तव्य अति अविलम्ब ही।

जीव का निज धर्म है भगवद् भजन
और सब दायित्व तो भ्रम मात्र हैं,
प्राणपति अतएव इनको छोड़ के
हम चलें अन्यत्र निज सुख के लिए।

गेह में भी भजन करना शक्य है
किन्तु यह दुष्कर कठिनतम कार्य है,
इस कठिन असिधार व्रत के मार्ग में
है सुगम चलना नहीं सबके लिए।

पूर्व भोगों की मधुर स्मृतियाँ प्रभो
नित यहाँ बाधक बनेगी भक्ति की,
छोड़ यह आश्रम अतः अन्यत्र ही
हम करें परमार्थ पथ की साधना।

सुन अरुन्धती के वचन उपरति भरे
पुलक पूर्ण वशिष्ठ का तन हो गया,
खिल गया उपराम पंकज चित्त में
नाचने तत्क्षण लगा मन मोर ज्यों।

वंशस्थ

अरुन्धती के उपराम वाक्य से
वशिष्ठ का चित्त प्रसन्न हो गया,
स्वपौत्र को सौंप समस्त भार वे
प्रबोध के निश्चय से हुए सुखी।

*** श्री राघवः शन्तनोतु ***

●

एकादश सर्ग

—: प्रबोध :—

सवैया

ऋषि दम्पति चित्त सरोरुह में
रघुचन्द्र प्रबोध पयोज खिला।
जिस भाव पराग परागत मंजुल,
प्रेम महा मकरन्द मिला।
उसमें पाके भक्तिसुधा रसस्वाद,
विषाद महा तरु शीघ्र हिला।
अब जीवन जानकी जीवन हेतु
समर्पित हो भव से न झिला।

अति प्रेम प्रफुल्लित देह लता
दृग नेह के नीर रहे थे चुवा।
जिसमें मुनिनायक की शुचि पावक
होम की भीग रही थी स्रुवा।
कर अग्नि समूहन वेद विधान से
भाल से आश्रम धूलि छुवा।
निज पौत्र को सौंपने हेतु निजाश्रम
भार समातुर चित्त हुआ।

बुलवा के सुतात्मज को विधि सम्भव
नयन से नीर बहाने लगे।
बिठला निज अंक में पौत्र वरेण्य को
नेह में आप नहाने लगे।
ममता शुचि दिव्य महासरिधार में
धीरज सेतु ढहाने लगे।
यम निष्ठ वशिष्ठ विवेकी वरिष्ठ
विवेक से यों समझाने लगे।

तुम गोत्र प्रवर्तक की हो धरोहर
भूलो न आर्ष परम्परा को।
सुर सेनप आनन कर्म से तात
करो कृत कृत्य वसुन्धरा को
रहो संयम शील समाधि सुनिष्ठित
वाणी में लाओ ऋतम्भरा को।
शशि ज्यों निज कीर्ति सुधा रस से
करो पोषित भारत की धरा को।

निज वेद स्वाध्याय प्रवर्वितता से
सपने में न तात प्रमाद करो।
वद सत्यं सदाचर धर्मं निरन्तर
भारत भूमि विषाद दरो।
निज वैदिक शिक्षा से कोटि जनों के
मनोगत व्याप्त विषाद हरो।
सुत शक्ति के शक्ति समर्जन द्वारा
सभी जग में अह्लाद भरो।

—: धनाक्षरी :—

कुलपति पद पर चिरकाल रहकर
प्राण के समान ऋषिकुल मैंने पाला है।
अष्ट विकृत प्रकृति त्रितय षडंग पाठ,
वेद की परम्परा में संस्कृति को ढाला है,
शिष्य पुत्र में न कोई भेद भाव माना मैंने,
पुतरी ज्यों पलक सुछात्रों को संभाला है।
अमृत पिलाया बटुओं को यथाशक्ति मैंने,
पी लिया स्वयं ही क्रूर कालकूट हाला है।

तुमसे सुयोग्य पौत्र को बना के कुलपति आज,
इस भार से विमुक्त हो रहा हूँ मैं।
विधि की विडम्बना से उपराम हेतु आज,
ऋषि परिवार से वियुक्त हो रहा हूँ मैं।
भारत की दूरगामी संस्कृति संभालने को,
सकल संसार से आयुक्त हो रहा हूँ मैं।
नूतन अध्याय जोड़ने को इतिहास बीच,
विधि के विचार से नियुक्त हो रहा हूँ मैं।

पढ़ने पढ़ाने से न पराङ्गमुख होना कभी,
ब्राह्मणों का स्वाध्याय ही एक मात्र धन है।
करना विचार शास्त्र चिंतन गम्भीरता से,
वाणी का तो उपहार वेद प्रवचन है।
पंचयज्ञ बलि वैश्य देव छोड़ना न तात,
ऋषि कुल का तो प्राण याजन यजन है।
आजीवन पालना मनोज्ञ वैदिक स्वधर्म,
वर्णाश्रम कर्म से पवित्र होता मन है।

ऊबना कभी न वत्स होकर अधीर तुम,
आगामी कठिनतम जीवन संघर्ष है।
टकराना पर्वतों से जाह्नवी प्रवाह जैसे,
क्षुब्ध कभी होना नहीं उद्धत आमर्ष से।
जटिल परिस्थिति का समाधान कर लेना,
विरति विवेक वेद विमल विमर्ष से।
पाराशर परम प्रसन्नता से आश्रम को,
रखना संभाल मित्रवर्ग परामर्श से।

जीत के सपत्नषट प्रभु पद के निकट,
संयम समाधि में निरत सदा रहना।
"सत्यं वद धर्मंचर स्वाध्यायान्मा प्रमदः,"
इसी ऋचा अनुसार नियम निबाहना।
वर्णाश्रम धर्मश्रति विहित विचार वत्स
सदा-सदा चरण निरत सुख लहना।
पाराशर पर अपवाद से सुदूर रह,
किसी के भी गुण-दोष कभी भी न कहना।

आगम स्वाध्याय प्रवचन व्यवहार वत्स,
शास्त्र उपयोग के ये चार ही प्रकार हैं।
चार वेद चार फल चार वय चार वर्ण,
चारों आश्रमों के ये रुचिर उपहार हैं।
मानवीय सभ्यता के यही चिर सम्भृत हैं,
भारतीय संस्कृति के यही चन्द्रहार हैं।
विप्र कुल भूषण ये दूषण हैं दूषण के,
जीवन सुवाटिका के सुभग शृंगार हैं।

विद्या है विभूषण अमोघ रत्न भूसुर का
विद्या ही मनुष्य का हितैषी एक मित्र है।
विद्या जननी जनक विद्या है कनक मणि,
विद्या प्राण जीवन है विद्या ही चरित्र है।
विद्या ही सोपान वेद वेद्य तत्व प्राप्ति हेतु,
विद्या भवसागर का सुदृढ़ वहित्र है।
विद्या से विहीन नर सूकर कूकर खर,
भूतल का भार बना नीच अपवित्र है।

पाराशर इस उपदेश की सुधा से तुम
जगत की भव भय क्षुधा को मिटाओगे।
कलिकाल की व्यवस्था स्मृति में निबद्धकर
वेद ऋषि जैसे कलि में भी कीर्ति पाओगे
भारतीय इतिहास विषद आकाश बीच,
विगत कलंक हरिणांक कहलाओगे।
पुत्र बादरायण स्वपौत्र शुकाचार्य को,
निहार कृतकार्यकृत कृत्य बन जाओगे।

देके अनुशासन समस्त ऋषिकुलपति पद पर,
किया अभिषिक्त पाराशर को
संयमी सुसाहसी वरेण्य वेद विज्ञ तपोमूर्ति,
मुनिवर्य गुण ज्ञान सुधाकर को।
चूम मुख पंकज गले लगा आशीष देके,
विधिवत ऋषि ने प्रबोध वंशधर को।
प्रस्थानिक स्वस्त्ययन वेद मंत्र पुरःसर,
सिरसा प्रणाम किया देव वैश्वानर को।

माता अरुन्धती ने दुलारे पौत्र को निहार
सींच दिया उसको विलोचनों के नीर से।
अंचल समावृत दुलार चुचकार उसे,
सपदि शिशिर किया साहस समीर से।
मुनि वनिताओं मुनि कन्याओं को सिखा के,
भाव भरी विदा लेके सारिका और कीर से।
वैखानस वृत्त हेतु प्राणपति के समेत चली,
उपरत मन विदा हो कुटीर से।

ज्यों ही आये कुटिया के बाहर वशिष्ठ मुनि,
विदा लेके मुनिजन पौत्र पाराशर से।
त्यों ही देखा मानस मरालों से समूह्यमान
विमल विमान को उतरते अम्बर से।
वंद्यमान सिद्ध सुर चारण गन्धर्व मुनि,
किन्नर असुर नाग मनुज निकर से।
निरख आसीन यान मध्य चतुरानन को,
परम प्रकाशमान कोटि दिनकर से।

आया देख विधि को सुअवसर पे दम्पति के,
नेह नीर भरि आया नीरज नयन में,
पुलक प्रफुल्लित पनस सा हुआ शरीर,
उमगा आनन्द अब्धि अन्तर अयन में,
सपना या सत्य है सुमंगल दरस यह,
अति अनुराग राग कोमल सुमन में।
सानुकूल विधि जान निज भाग धेयमान,
सात्विक सुभाव जगा तपः पूत तन में।

अरुण वरण तन अरुण वसन राजै,
वाम अंस लम्ब मान पीत उपवीत था।
कर में कमण्डलु लसित जाह्नवी का जल,
विष्णु पद पद्म रस चरित पुनीत था।
चारों वेद चारों मुख पंकजों में भ्राज रहे,
मानस विमल शक्ति भूषण परीत था।
लोक सृष्टि चातुरी तुरीय प्रीति आतुरी,
विधाता का हृदय पुत्र पर अति प्रीत था।

—: सवैया :—

आते विलोक विधाता को दम्पति,
प्रेम समेत किये पग वंदन।
नीरज लोचन नीर से अर्घ्य दे,
नेह से निघ्न किये अभिनन्दन।
धोरण से अवतीर्ण पिता ने,
गले से लगाकर भूसुर चंदन।
नन्दन की नव मल्लिकाओं से,
सनाथ किये मुनि को हरिनन्दन।

—: घनाक्षरी :—

श्वसुर की पद पंक जात की पवित्र पांशु,
पावन पराग धर शीश पे अरुन्धती।
"अखण्ड सौभाग्यवती भव" सुन शुभाशीष
पाई मानो नव निधि मुदित हुई सती।
अचल संपुट कर परस-परस पद,
तामरस भागधेय सरस सराहती।
आनन्द में झूम-झूम प्रेम रस ऊम-ऊम,
विधि पुत्र वधू लसे मानो सुर व्रतती।

—: सवैया :—

देखा चतुर्मुख ने निज सम्मुख,
दम्पति को कर पंकज जोड़े।
गेह के देह के नेह से निर्मित,
बंधनों को मन से तृण तोड़े।
मानो मधुव्रत युग्म चला,
उड़ अम्बर में कमलालय छोड़े।
श्रावण गंग तरंग की धार को,
कौन पयोनिधि से अब मोड़े।

बोले विधाता विचार विचक्षण,
दम्पति छोड़ चले तुम आश्रम।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा से,
हुआ मन में यह त्याग उपक्रम।
संग्रह से तुम नित्य पराङ्मुख,
तात परिग्रह में न परिश्रम।
केवल था विधि का यह पालन,
पूर्ण किया उसको भी बिना श्रम।

श्री रघुनन्दन प्रीति का पोषक,
दम्पति का गृहमेधि समागम।
भावनाओं का पवित्र समंजस,
भक्ति सुरङ्गिनी का स्वर सरगम।

वासनाओं का न लेश यहाँ पर,
राम उपासना गेह मनोरम।
कोटि विरक्ति समान गृहस्थी है,
विप्र वशिष्ठ का संयम उद्गम।

जो न जीत सके मद क्रोध मनोभव,
ऐसे विरक्त विरक्त नहीं।
जो सदा इन क्रूर विकारों से दूर हो
ऐसे गृहस्थ-गृहस्थ नहीं।
विजितेन्द्रिय संयम शील गृहस्थ को
स्वर्ग यहीं अपवर्ग यहीं।
अजितेन्द्रिय वेश विरक्त त्रिलोक में,
पायेगा क्या सुख शान्ति कहीं।

—: विषयारति :—

मन जो न रंगा रघुनन्दन से,
तब वस्त्र रंगाने से लाभ नहीं।
मन जो भटके भव कानन में,
तब कानन जाने से लाभ नहीं।
मन जो न रमा हरि की धुनि में,
तब धूनि रमाने से लाभ नहीं।
मन जो न मुड़ा विषया रति से,
तब मूड़ मुड़ाने से लाभ नहीं।

अतएव अरुन्धती का यह निर्णय,
मंगल कार्य विधान बना।
अनुराग विराग सुभाग महाव्रत,
साधनों का ये निधान बना।
यह भावुकता का सुरम्य महीतल,
स्नेह का स्वर्ण सोपान बना।
वनिताओं के हेतु यही इतिहास में,
भक्ति मनोहर गान बना।

इस नारि ललाम अरुन्धती से,
हे वशिष्ठ वशी तुम धन्य बने।
इसके कर पल्लव के ग्रह से,
गृहियों के लिए तुम मान्य बने।
इसके तप तेज प्रभाव से वत्स,
सदा तुम एक वदान्य बने।
इसकी शुचि साधना से तुम भी
रघुनायक भक्त अनन्य बने।

यह नारी नहीं सुत भूतल पे
उतरी बन मंगल भाग्य तुम्हारा।
अविराम चलेगी इसी की कथा,
जग में यथा देव नदी वरधारा।
सहचारिणी तेरी रहेगी सदा,
यह मिथ्या न तात निदेश हमारा।
ऋषि सप्त के बीच सदा चमकेगी,
अरुन्धती कीर्ति अरुन्धती तारा।

तुम ऊबो नहीं इस बन्धन से,
यह जीवन रम्य सिंगार है तेरा।
यह नारकीयातना का है निकन्दन,
पावन ब्रह्म विचार है तेरा।
अपवर्ग औ स्वर्ग समन्वय वत्स,
यही तो सदा सदाचार है तेरा।
यह देवि अरुन्धती का सहचार,
अनूपम शक्ति विहार है तेरा।

यह बन्धन-बन्धन मूल नहीं,
जहाँ राघव प्रेम उजागर हो।
वह फूल सदा शत शूल जहाँ,
अलि गुंजन नेक न आगर हो।
वह स्वर्ग नहीं नरकायुत है,
जहाँ गाया न जाता सियावर हो।
वह सागर क्यों भवसागर है,
जहाँ राम सा रत्न गुणाकर हो।

अतएव वशिष्ठ निदेश सुनो,
मन में न द्वितीय विचार बनाओ।
हरि इच्छा से कोशल देश में जाके,
नवीन शुभाश्रम रम्य बनाओ।
रहके गृह धर्म में वेद षड़ंग,
सुशास्त्र सदा बटुओं को पढ़ाओ।
अभी योग्य नहीं है तृतीय विधा,
फिर पावक होत विधा को चलाओ।

-: घनाक्षरी :-

होकर त्रिकाल के भविष्य के भी विज्ञ सुत,
अपने भविष्य को नहीं हो कुछ जानते।
योगि जन दुर्लभ निगूढ़ परमेश्वरीय लीला के,
विधान को नहीं हो पहचानते।
दूरदर्शिता के बिना बैखानस ब्रत कर,
राम के बिना भी उपराम तुम ठानते।
आश्रम द्वितीय में तुरीय मिले तुझको जो,
तो क्यों फिर आग्रह तृतीय हित मानते।

छोड़ो छोड़ो वानप्रस्थ अभी तो रहो गृहस्थ,
आज्ञा से ही मेरी फिर बन्धन स्वीकार लो।
यहाँ से सुदूर जाके कोशल प्रदेश मध्य नूतन,
कुटीर पर्ण तृणों से सँवार लो।
अवध के निकट पढ़ा के वेद भारती,
नरोत्तम की आरती भव में उतार लो।
गोद में अरुन्धती के ईश्वर के व्यूह रूप,
यज्ञफल सुवन सुयज्ञ को निहार लो।

दशरथ नृप के पुरोहित बनो मुनीन्द्र,
फिर से चलाओ कर्म काण्ड की परम्परा।
घन, जटा, शिखा, माला, रेखा, रथ, दण्ड,
ध्वज, पद, क्रम, संहिता, निगम नीति निर्भरा।

सुप्त जनता में भरो सप्त स्वर लहरी को
भास्वर बनाओ फिर भारत वसुन्धरा।
अवध के आश्रम के नव कुलपति बन,
शिष्य परिवार से मही करो गतज्वरा।

ईश का निदेश पाके आया मैं तुम्हारे पास,
लीलाधर का आदेश सिर माथे पे धरो।
कोशला में जाके पुरोहित होके भूपति के,
पावन प्रतीक्षा परमेश जन्म की करो।
चक्रवर्ति आदर से होवे नहीं अहंकार,
सकल प्रकार सत्य धर्म ब्रत आचरो।
गुरु पद पाके जगद्गुरु का वशिष्ठ,
मुनि युग-युग विमल विरुद विप्र बिस्तरो।

—: सवैया :—

बोले वशिष्ठ कृतांजलि तात से,
हे विधि मैं यह भार न लूँगा।
दुष्कर कर्म पुरोहित का,
यह शीश पे मैं उपचार न लूँगा।
शास्त्र, श्रुति, स्मृति गर्हित कर्म ये,
जान के मैं अभिचार न लूँगा।
पाप औ पुण्य सभी यजमान के,
आपने ज्यों अपचार न लूँगा।

भूखा नहीं प्रभु वैभव का,
सुरलोक का राज समाज न चाहिए।
ब्राह्मण मैं यथा लाभ सुखी,
अतिरिक्त महा सुख साज न चाहिए।
पर्णकुटी में करूँगा मैं साधना,
नाथ त्रिलोकी का राज न चाहिए।
मंद पुरोहित कर्म[१] महीपति,
मान मुझे महराज न चाहिए।

(१) — पौरोहित्य कर्म अतिमंदा। वेद पुराण स्मृति कर निंदा॥ (मानस)

पाके निदेश पिता का,
अरुन्धती के संग कोशल जाऊँगा मैं।
कानन में सरयू के समीप ही,
पर्ण कुटीर बनाऊँगा मैं।
साधन होके भी साधना से,
निज साध्य को शीघ्र रिझाऊँगा मैं।
पर कर्म पुरोहित का जलजोद्भव,
देव नहीं कर पाऊँगा मैं।

लख चातुरी पुत्र की श्री चतुरानन,
आनन्द से मुसुकाने लगे।
अघ कानन वृंद दवानल आत्मज,
देख महा सुख पाने लगे।
अति प्रेम प्रफुल्लित चारो किरीटों को,
भाव विभोर हिलाने लगे।
चतुरानन से सुत आनन चूम के,
झूम के वे समझाने लगे।

तुम धन्य सुपुत्र महीसुर रत्न,
सराहने योग्य विवेक निराला
महनीय गुणों से तुम्हीं ने त्रिलोकी में,
वैदिक धर्म सदा परिपाला।
रहे संयमी जाया समेत 'सदैव,
तुम्हें न दही भवभोग की ज्वाला
अतएव तुम्हारे बनेंगे सुशिष्य,
जगतपति श्री दशरथ के लाला।

वह कर्म विकर्म न होता कभी,
जो जनार्दन के पद से जुड़ जाता।
जैसे तोय त्रिशंकु नदी का अपावन,
पावन गंगा में जाके कहाता।
नर देह की राख मिली शिव से,
बनी भूति सुपूज्य त्रिलोकी में ख्याता।
अहिषा अपवित्र बना हरिसेज,
सदा जग में अति आदर पाता।

तुम जाओ अयोध्या में तात सहर्ष,
जहाँ सरिता सरयू बहती।
जो तुम्हारी सुता के ही नाम से ख्यात,
त्रिलोक के पातक है दहती।
शर से प्रकटी जो तुम्हारे ही वत्स,
सदा सुख आनंद में रहती।
सरयू रघुनन्दन की स्मृति में,
सरसी हरषी हरि भावतती।

जहाँ नित्य निरंतर ध्यान करें,
अय से होके सुस्थिर साधक ध्यानी।
जहाँ होता प्रहार नहीं जनता पे,
जनार्दन की जो बनी राजधानी।
जिसे जानते लोग अयोध्या के नाम से
पूजते हैं जिसे सारंग पानी।
वह जन्म मही परमेश्वर की,
जहाँ राजा हैं राम औ जानकी रानी।

जब लोक विरावण रावण के,
अपचार से पीड़ित होगी मही।
जब गो द्विज, भूसुर, संत परम्परा,
रोयेगी ताप दवाग्नि दही।
जब उद्धत होगा अधर्म महाअघ,
आनंद पायेगा धर्म नहीं।
तब कौशिला गोद में बालक रूप से,
होंगे प्रभु अवतीर्ण वहीं।

—: छप्पय :—

परमात्मा अविकार्य अखण्ड अनघ अविनासी।
जो सर्वज्ञ सनातन सबके घट-घटवासी।
वे दशरथ के अजिर पुत्र बन कर विचरेंगे।
बाल केलि रस सुधा धार से क्षुधा हरेंगे।
किलक-किलक घुटनों चलें रुचिर धूल भूषण वसन।
रामभद्र भव भावना विवश बाल क्रीड़ा करण।

दशरथ पिता बनेगें तब कौशिल्या माता।
रूप मालिनी मगध सुता लोचन सुखदाता।
भरत लखन, रिपुदमन बन्धु भव बन्धन हारी।
खेलैं सरजू तीर तीर धनु तर्कषधारी।
दशरथ चातक नव जलद प्रणतपाल भव भयहरण।
रामभद्र भ्राजिष्णु वपु निखिल लोक मंगल करण।

अरुन्धती गुरु माता तुम गुरुदेव बनोगे।
लख-लख प्रभु मुख कमल हर्ष से सतत सनोगे।
छात्र रूप रघुनाथ तुम्हारे गृह आयेंगे।
सरस रूप माधुरी सुधा वे सरसायेंगे।
दूर करेंगे दुरित सब, दुष्ट दलन करुणायतन।
मर्यादा पालक प्रभु राम तुम्हारे शिष्य बन।

विद्यानिधि को तुम धनु विद्या सिखलाओगे।
आगम निगम पुराण उन्हें तुम बतलाओगे।
पूरी होगी मुने चिरंतन तेरी आशा।
शीघ्र बुझेगी तात नयन की दरस पिपासा।
सब साधन का मधुर फल देंगे प्रभु गुरु दक्षिणा।
रामभद्र श्री अवध में, भक्ति विवेक विलक्षणा।

तुम वशिष्ठ होगे विशिष्ट ऐसा सुख पाकर।
मर्यादा पुरुषोत्तम को निज शिष्य बनाकर।
शुभ विवाह का मधुर नेग भी तुम्हें मिलेगा।
तेरे उर सर मध्य प्रेम पाथोज खिलेगा।
गूँजेंगे कवि मधुप गण, पीकर वह मकरन्द वर।
जाओ-जाओ अब अवध, नहीं बनो तार्किक मुखर।

अरुन्धती के गोद बैठ प्रभु मृदु मुस्काकर।
माँग-माँग मोदक खायेंगे अति सुख पाकर।
चूम-चूम मुख पंकज उन्हें दुलार करेगी।
गुरु पत्नी बन अरुन्धती भव व्यथा हरेगी।
रावण वध कर अवध के राम बनेंगे भूपवर।
प्रथम तिलक करके तुम्हीं, होगे गुरु पद से अमर।

—: वसंत तिलका :—

पाके प्रबोध विधि से विधि पुत्र ज्ञानी।
आये सुकोसल पुरी हरि राजधानी।
छोटा कुटीर सरजू तट पे बना के।
देवी अरुन्धती समेत वशिष्ठ राजे।

*** श्री राघव : शन्तनोतु ***

●

भक्ति

अंबर क्षिति की दूरी ज्यों,
जीवन विभक्ति की रेखा।
जो झुठलाने आयी हो,
शारदी पर्व विधु लेखा।

ईश्वर से जीवों का जो,
मंगल मधु मिलन कराती।
परमात्म प्रेम की प्रतिमा,
है भक्ति वही कहलाती।

सद्गुण सुरतरु बीजों की,
यह एक अलौकिक धरती।
जन-जन के हृदय कमल में,
मकरन्द प्रेम रस भरती।

जो कादम्बिनी सरी-सी,
चातक की प्यास बुझाती।
यह कौन अलौकिक नलिनी,
जो कभी नहीं मुरझाती।

मृग ज्यों मरुमरीचिका में,
आसन्न मरण जो भटका।
वह मन जिसकी आशा में,
निज प्राण रोक कर अँटका।

उसकी जिजीविषा की जो,
है केन्द्र सुधा भूली सी।
यह कौन मौन उपवन में,
फिर रही मस्त फूली सी।

सर्वांग सुसज्जित सुन्दर,
दिखती अपूर्व यह ललना।
पर नहीं छू गयी जिसको,
कुत्सित कुरुपता छलना।

चंचल क्या चितवन इसकी,
क्यों दिखती नहीं तिरीछी।
जिसकी चेतना सुधा से,
हुई शान्त वासना बीछी।

लोचन नवनील नलिन से,
पर नहीं कर रहे घायल।
हाँ वैदिक ऋचा सुनाती,
जिसके चरणों की पायल।

ये नहीं बाण से वेधक,
देवी के कंज विलोचन।
निर्वाण सार सर्वस ये,
भीषण भव भय के मोचन।

समरुण कपोल पर इसके,
किंचित न काम की रेखा।
आनन अवलोक लजाती,
अकलंक पूर्ण विधु लेखा।

पाटल रसाल पल्लव से,
अधरों पर लसती लाली।
पर जिस पर थिरक रही है,
वात्सल्य अमृत की प्याली।

कुछ लटक रहे भटके से,
झष मकर केतु के कुण्डल।
जिससे अब अधिक सलोना,
बन गया अनघ मुख मंडल।

अति मधुर मंद सुस्मित है,
किसका करुणारस निर्भर।
जो सोख रहा द्रुतगति से,
जन शोक अश्रु का सागर।

दाडिमी बीज राजी सी,
रद पंक्ति पवित्र बतीसी।
प्रिय वशीकरण मूलीमय,
जिस पर लसती है मीसी।

मुक्तामय मंगल बेसर,
नासा में लटक रही है।
मुक्तों की अवली इस मिष,
श्रद्धा नत अटक रही है।

घन गगन भानुजा जल सा,
सीमन्त लस रहा नीला।
जिससे संचालित होती,
अव्यक्त पुरुष रस लीला।

परमेश्वर विविध वपुष में,
मृदु कुसुम गुच्छ मय लसते।
अनुराग समीर समीरित,
पद तल में अवनत खसते।

यह हार हृदय पर कैसा,
प्रिय लोचन चित्त चुराता।
हारा परमेश्वर ही ज्यों,
हिय हार बना छवि पाता

अष्टांग योग मय मानो
लसे अष्ट कमल दल माला।
जनु मनोभृंग मड़राते,
जिनको न उड़ाती बाला।

आकारिक प्रश्न उपनिषद,
समकर में कंकण सोहें।
किंकिणि-किं किं कह उत्तर,
मीमांसा सी मन मोहें।

मंजीर धीर धुन करते,
चरणों में अधिक सुहाये।
मनो मदन जलज पर मुनिवर,
हंसों ने नीड़ बनाये।

यह राजहंस सी चलती,
फिर भी न क़िमपि इठलाती।
अर्भक वत्सल जननी सी,
चुपके से सम्मुख आती।

युग कनक कलश से सुन्दर,
उर में राजते पयोधर।
जिनसे छर-छर छरता है,
वात्सल्य क्षीर रस सुमधुर।

यह प्रकृति सुन्दरी भामिनि,
पर कामिनि नहीं कभी भी।
मधुराका शरद निशा है,
अमायामिनी नहीं कभी भी।

यहाँ नहीं भूलकर मन्मथ,
छोड़ता पंच वाणों को।
इनके चरणों की रज से,
पावन करता प्राणों को।

शत उमा रमा ब्रह्माणी,
इसके स्वरूप पर वारी।
बलिहारी जाती इसपे शत,
कोटि-कोटि रति नारी।

लक्ष्मी जिसके सुषमा का,
परमाणु कथंचित पाके।
कृत कृत्य हुयीं निज पति को,
शोभा से प्रथम रिझाके।

यह रूपवती होकर भी,
मन में कुछ गर्व न करती।
निज विनय वचन रचना से,
अभिराम राम मन हरती।

प्रति अंग अनंग विवर्जित,
मल से सर्वथा अछूती।
कूटस्थ जगत पति के भी,
मन को चुपके से छूती।

किस कलाकार का ऐसा,
निर्दोष सर्ग अति सुन्दर।
जिसमें न भासते अवगुण,
जो है कल्याण गुणाकर।

निर्गुण रस रूप सनातन,
निज दिव्य गुणों से खिंचकर।
होता गुण रसिक स्वयं भी,
इस सरोजिनी का मधुकर।

अग जग के जादूगर पर,
इसने क्या जादू डाली।
जो इसके हुआ वशंवद,
कर लीला रसिक निराली।

देखा न गया त्रिभुवन में,
ऐसा पत्नी प्रिय स्वामी।
अनुगम्य सुरों का होकर,
इसका जो बना अनुगामी।

बोलो- बोलो हे भद्रे,
क्या वशीकरण यह तेरा।
अग जग का नायक जिससे,
तेरे चरणों का चेरा।

ठहरो मत दूर न जाओ,
खोलो रहस्य यह भोरी।
अग- जग के ठग पर तुमने,
डारी यह कौन ठगौरी।

यह मर्म प्रिया प्रियतम का,
इससे तुम यहाँ छिपाती।
कोई न यहाँ अधिकारी,
इससे तुम नहीं बताती।

यदि भद्रे शुद्ध हृदय से,
मैं तुम्हें मान लूँ माता।
तो भी क्या हो जायेगी,
मेरी गरिमा आख्याता।

माता भी नहीं तनय को,
पति मधुर मर्म बतलाती।
केवल शिशु पालन करती,
प्रश्नुत पय पान कराती।

सुत है अधिकृत उसमें ही,
अतिरिक्त न गेय उसे है।
पितु-मात पदाब्ज युगल से,
अतिरिक्त न ध्येय उसे है।

इस माँ ने सपने में भी,
सुत से न कभी कुछ चाहा।
बिन पूछे गुण अवगुण के,
नाता निरपेक्ष निबाहा।

हा हन्त कभी न निहारा,
शिशु के शत अपचारों को।
शत बार कहा वल्लभ से,
स्वाभाविक उपचारों को।

स्थिति में भी किसी विकल हो,
बालक जब उसे बुलाता।
पात्रता बिना ही परखे,
आती तत्क्षण ही माता।

कर दूषण दूर उसी क्षण,
पहना शुचि सद्‌गुण भूषण।
पति निकट तुरत ले जाकर,
कर देती विश्व विभूषण।

वर बोध सुशीतल जल से,
माँ उसे प्रथम नहलाती।
फिर भजन सुधा रस मिश्रित,
भोजन से क्षुधा मिटाती।

आसक्ति धूम्र धूली कण,
उपरति तड़ाग में धोती।
फिर पहनाती सुत उर में,
प्रियतम भावों के मोती।

चिढ़ती न कभी दोषों से,
यह पुत्र वत्सला कैसी।
नव जात वत्स मन हरती,
है स्वयं काम धुक जैसी।

यह शनैः शनैः पावक को,
पति के समीप पहुँचाती।
ज्यों ब्रह्म जीव बिच माया,
निश्छल साहचर्य निभाती।

अति दारुण अपराधों पर,
निज पति से क्षमा दिलाती।
शतियों से बिछुड़े सुत को,
जननी पितु अंक बिठाती।

कुलिषादपि कठिन दयित को,
विद्रुम समान पिघलाती।
पति विमुख पुत्र को भी,
वह साधना मन्त्र सिखलाती।

उडुगण पार्वण शशि कलिता,
तुम मधुराका रजनी हो।
वात्सल्यमयी लोकोत्तर,
तुम ममतामय जननी हो।

पालित सुत से भी तुमने की,
कुछ भी नहीं अपेक्षा।
सपने में भी न तनय की,
तुमने की दोष समीक्षा।

सौन्दर्य शील की सीमा,
कर स्ववश दयित को लसती।
प्राणेश दिवाकर को लख
नलिनी सी सतत विकसती

तेरे पराग के ऊपर,
गूँजे न कभी भी मधुकर।
यह दिव्यशील पातिव्रत,
अनुकार्य नहीं भूतल पर।

प्राणाधिक प्रिय बल्लभ की,
तुम परम प्रेम रूपा हो।
अमृत स्वरूपिणी सुख दे,
पद नत सुर नर भूपा हो।

सुस्पर्श कंज कर का भी,
जिस पर हो गया तुम्हारा।
लोकोत्तर होकर जग में,
वह फिरा न मारा-मारा।

उन्मत्त मूक जड़ जैसा,
फिरता प्रपंच से न्यारा।
वह बना भुवन का भूषण,
होता अग-जग को प्यारा।

किस कलाकार ने तुमको,
आर्ये इस भाँति बनाया।
जिसको न कभी ठग पायी,
यह विषम वैष्णवी माया।

नारी-नारी के छवि पर,
आकृष्ट न होती जग में।
इस कारण ही सम्भव है,
तुम रंगी न इसके रंग में।

यह प्रकृति चंचला कुलटा,
जग में स्वच्छन्द विचरती।
पल मध्य धीर मुनियों के,
मानस को मोहित करती।

पर तुम हो सती सिरोमणि,
शाश्वत पति मती अनन्या।
अनुकूल भर्तृका दिव्या,
नायिका मानिनी धन्या।

मानव की मानवता की,
तुमने की निर्मित काया।
यह सच है भक्ति तुम्हीं ने,
भूतल को स्वर्ग बनाया।

तुम परितोषिक पतिका हो,
ललना ललाम निष्कामा।
आनन्द सुधाकर ज्योत्सना,
भगवत प्रिय भामा रामा।

भगवान तुम्हारे वश हो,
नीचाति नीच घर जाते।
संकल्प पूर्ण उसका कर,
अति पावन प्रेम निभाते।

बन गये कनौड़े जन के,
भगवान तुम्हारे कारण।
अतएव ग्राह से छूटा,
गर्वित पशु पामर वारण।

ये भुक्ति मुक्ति भी तेरे,
चरणारबिन्द की दासी।
तेरे हैं ऋणी निरंतर,
ईश्वर समर्थ अविनाशी।

अन्याभिलाषिता शून्या,
निरपेक्ष ज्ञान साधन से।
प्रिय पति को सदा नचाती,
तुम परम प्रेममय धन से।

निर्ग्रन्थ ब्रह्म का कैसा,
मैथिली ग्रंथि में बंधन।
यह धान कूटना कैसा,
परमेश्वर का आराधन।

यह क्या निषाद का आग्रह,
पद प्रच्छालन हित प्रभु से।
कोलों का मधुर उलाहना,
कैसा विचित्र यह विभु से।

खग पति जटायु अंत्येष्टी,
शबरी गृह फल का भक्षण।
यह सागर सेतु निबंधन,
कैसा यह कपिकुल रक्षण।

तेरे कारण ही यह सब,
भावी सुवृत्त भी सम्भव।
ईश्वर ने सब स्वीकारा,
तेरे हित प्रकृति पराभव।

रहकर भी पति अनुकूला,
तुमने न कभी कुछ चाहा।
निष्काम भाव से प्रभु का,
पावन दाम्पत्य निबाहा।

अनुराग राग रंजित हो,
परमेश्वर मधुकर जैसे।
वह भाव कंज कोसों में,
रुँध गये पराजित कैसे।

अन्याश्रय त्याग तुम्हारा,
है परम मर्म जीवन का।
लौकिक वैदिक विधियों से,
उपराम धर्म साधन का।

सब कुछ तज शुभे जगत में,
तुमने न परम पद छोड़ा।
तोड़ा जगती का नाता,
प्रभु से न कभी मुख मोड़ा।

तुम परम प्रकाश प्रसन्ना हो,
दीप शिखा मणिगण की।
अम्बर की पुण्य विभा तुम,
हो शोभा तुम उडुगण की।

हे दिव्य दीपिके तुमको,
क्या बात बुझा पायेगा।
क्या क्रूर वरुथ खलों का,
तेरा नाम मिटा पायेगा।

तुम दिव्य ज्योति दीपक की,
बनकर अशेष तम हरती।
बन रश्मि, रश्मि माली की,
अब जग को रसमय करती।

तुम स्वयं महा रस रूपा,
रस केश्वर रस प्रदा हो।
तुम दिव्य बोध श्रुतियों का,
आगम रहस्य सुखदा हो।

उपनिषदों की गुरु गाथा,
मुनियों की करुण कहानी।
इतिहास हास शुचि शाश्वत,
कवियों की कथा पुरानी।

प्रति रोम-रोम में तेरे,
परमात्म स्मृति झंकृति है।
तुम विश्व भारती मंदिर
तुममें अपूर्व उपकृति है।

तुमको न जान पायेगा,
भूतात्मा भौतिक वादी।
वस्तुत: तुम्हीं ने जग की,
झंझा पल मध्य मिटा दी।

यह अर्थवाद मानव की,
तृष्णा को अधिक बढ़ाता।
कर दानवता का सर्जन,
जीवन रस हीन बनाता।

दिन रात प्रतिस्पर्धा की,
यह भाग दौड़ है चलती।
विश्राम न क्षण भर मिलता,
मन में अशांति ही पलती।

नर स्वयं यन्त्र बन करके,
यन्त्री को भूल गया है।
अतएव मोह मदिरा से,
पागल हो फूल गया है।

यह चकाचौंध हा कब तक,
कब तक भौतिक सुविधायें।
क्षण भंगुर कभी न होगी,
पूरी मन की आशायें।

ज्यों ज्यों तनाव बढ़ता है,
दिन-दिन इस मानव मन पर।
त्यों त्यों होता यह निर्बल,
अपना विवेक बल खोकर।

कोल्हू में तेल सरीसा,
यह मानव पेरा जाता।
क्षण भर न कभी इस जग में,
विश्राम शांति वह पाता।

अंततः भूल वह सब कुछ,
भव मूल धूल में मिलता।
होकर पतंग इन झूठी,
दीपक लपटों में जलता।

इन जटिल समस्याओं का,
है समाधान एक अनुपम।
आरूढ़ भक्ति नौका पर,
नर तर सकता भव दुर्गम।

भजनीय भक्ति भेदों की,
खाई पटती है इससे।
दारुण विषयों की तत्क्षण,
काई कटती है इससे।

यह कर्मयोग ज्ञानों से,
श्रेयसी प्रेयसी प्रभु की
सर्वस्व समर्पण रूपा,
वरदा वरीयसी विभु की।

यह धृति विषय बुभुक्षा,
गति का सोपान मनोहर।
आराम भुक्ति मुक्ति का,
अभिराम प्रेम रस निर्भर।

यह कौन मौन माता सी,
चुपके-चुपके से आकर।
घुस जाती मन मन्दिर में,
स्मृति का वर दीप जलाकर।

साधना साध्य की बनकर,
फिर स्वयं साध्य बन जाती।
पुरुषार्थ रूप हो पहले,
फिर तो परमार्थ कहाती।

यह विमल व्योग गंगा सी,
अपनी रसधार बहाकर।
कर रही हृदय को शीतल,
भीषण भव तृषिख बुझाकर।

चपला सी चम-चम चमकी,
उर गगन हुआ आभामय।
यह कौन सुधा औषधि सी,
अन्तर कर रही निरामय।

यह कौन विपंची वंशी,
उर के उपवन में बजती।
धीरे-धीरे अणु अणु में,
यह कौन आरती सजती।

यह कौन कठिन घावों पर,
कर लेप सलोने कर से।
कर रही वैद्य कन्या सी,
मुझको विमुक्त इस ज्वर से।

किसका मंजीर सुहावन,
ध्वनि मिष श्रवणों में आकर।
मन को बेचैन बनाता,
अपने हित कुछ ललचाकर।

यह कौन इन्दु ज्योत्सना सी,
मन सिन्धु तरंगित करती।
जीवन में मधुर पिपासा,
निज कर वितरण से भरती।

यह कौन पूर्व परिचित सी,
मन मंदिर में आ बैठी।
अपनी कर स्वयं व्यवस्था,
अनुराग तल्प पर बैठी।

यह कौन पंच कोशों को,
दोषों के साथ जलाती।
अभिराम अग्नि ज्वाला सी,
जयोतिर्मय हृदय बनाती।

यह कौन मुक्ति मुक्ता का,
उपहार समर्पित करती।
परमेश्वर प्रीति सुधा से,
यह कौन क्षुधा को हरती।

वस्तुतः भक्ति देवी तुम,
मैने तुमको पहचाना।
करके वैचारिक मंथन,
निज इष्ट तुम्हीं को माना।

हैं कुसुम श्रुति विहित साधन,
उनका विज्ञान सुफल है।
उसकी भी तू रस रूपा,
अति निर्विकार निर्मल है।

तुम निःसपत्न प्रभु की हो,
वल्लभा प्राण से प्यारी।
श्रुतियों ने गायी सादर,
तेरी ही महिमा न्यारी।

तुमको मानते नहीं हैं,
रस हीन वासना पोषक।
जो बुद्धिवाद से प्रेरित,
उच्छृंखल मन के शोषक।

पर उनके कहने से क्या,
तेरा उत्कर्ष मिटा है।
कतिपय उलूक निन्दा से,
क्या रवि का सत्व घटा है।

यदि उज्ज्वल रस है राजा,
तुम उसकी भी माता हो।
तुम कहीं न अन्तर्भूता,
श्रुतियों में भी ख्याता हो।

शृंगारिक रति में सम्भव,
क्या अन्तर्भाव तुम्हारा।
क्या पल्लव जल में छिपती ?
अविरल सुरसरि की धारा।

देवाधि विषयिणि रति भी,
तुम कभी नहीं हो सकती।
पुत्री की सत्ता में क्या ?
माँ की सत्ता खो सकती।

हैं जीव कोटि में सुरगण,
तुम परमेश्वरान्तरंगा।
अतएव विलक्षण सबसे,
शाश्वती भक्ति रस गंगा।

तुम नवों रसों से ऊपर,
उत्कृष्ट भक्तिमय रस हो।
श्रुति में रस शब्द समर्चित,
वैदिक वाङ्मय सर्वस हो।

पुरुषोत्तम तुमको पाकर,
होते रस अनुभव कर्त्ता।
तेरे बल पर ही मानव,
होता दानव संस्कर्ता।

अनुभूति नहीं अपरोक्षा,
प्रत्यक्ष तुम्हारा दर्शन।
सचमुच तुम करवा देती,
उस परमपिता का स्पर्शन।

तुम स्वाद सुधा रस का हो,
आह्लाद विश्व सर्जन का।
तुम मूल मन्त्र प्राणी के,
अति मंगलमय अर्जन का।

तेरे अभाव में मानव,
रहता असहाय अधूरा।
तेरे बिन नारायण का,
होता न स्वप्न भी पूरा।

जब तक तेरी करुणा की,
अनुभूति नहीं हो जाती।
तब तक ज्ञानी जन को भी,
माया भुजंगिनी खाती।

होते हैं पतित स्वपथ से,
तब तक योगी ज्ञानी जन।
जब तक न उन्हें मिलता है,
जननी तेरा अवलम्बन।

जब श्री हरि गुण कीर्तन से,
लाक्षा ज्यों मन द्रुत होता।
वासना कठिनता को वह,
तत्क्षण समग्रत: खोता।

तब मनोवृत्ति गंगा सी,
आतुर प्रभु सन्मुख जाती।
भगवदाकार सी रञ्जित,
वह तभी भक्ति कहलाती।

अविराम तैल धारावत्
वह मनोवृत्ति अति निर्मल।
भगवद् स्वरूप को पाकर,
अब बनी भक्ति अति अविरल।

कामादि महा दोषों का,
करके अशेषत: भंजन।
मेरे अन्तर्यामी का,
कर रही मधुरतम रंजन।

तुम नवों रसों का उद्‌गम,
है पृथक तुम्हारी सत्ता।
क्या जान सके नर पामर,
तेरी अपूर्व गुणवत्ता।

इन्द्रियातीत सत्ता का,
तुमने प्रत्यक्ष कराया।
तुमने सुसाधकों का भी,
मुझको अध्यक्ष बनाया।

अब आज श्रेष्ठ वनिता बन,
दर्शन देने आयी हो।
जीवन आयामों के भी,
उपहार नये लायी हो।

मुझ निश्किंचन ब्राह्मण की,
कुटिया सनाथ कर दी है।
अपनी वात्सल्य सुधा से,
भव क्षुधा देवि हर ली है।

जाने न कहीं भी दूँगा,
तुमको अब मन से बाहर।
बन अधिदेवता हृदय की,
जननी प्रसन्न मुझको कर।

हे भक्ति मिला दो प्रभु से,
मैं मन का ताप मिटाऊँ।
उनके चरणों में रहकर,
भव से विमुक्त हो जाऊँ।

पर क्षण भर अलग न होगी,
मेरी अरुन्धती मुझसे।
अतएव युगल की सेवा,
स्वीकार विनय यह तुझसे।

देखो अरुन्धती देखो।
यह एक सुन्दरी आयी।
नूपुर की झनकारों से,
चेतना नई सी लाई।

आओ भद्रे दिग् आवो,
इनका सौन्दर्य निहारो।
इनकी इस रूप सुधा पर,
रति कोटि-कोटि शत वारो।

थी कुसुम चयन में तत्पर,
सुन आतुर प्रियतम का स्वर।
आई अरुन्धती दौड़ी,
विस्मय से किमपि मुखरतर।

हा हन्त ! आर्यसुत ! सपना क्या,
देख रहे इस क्षण हैं।
है नहीं नींद भी इनको,
उन्मिषित युगल लोचन हैं।
क्यों असम्बद्ध वचनों को,
इस भाँति उचार रहे ये।
किसके वार्ता के क्रम में,
अब मुझे पुकार रहे ये।

जाकर देखा ऋषि सम्मुख,
थी खड़ी एक वर नारी।
जिसकी सौन्दर्य विभा पर,
रति कोटि-कोटि बलिहारी।
चंपक समान तन आशा,
दामिनि सी दमक रही थी।
कौशेय साटिका उस पर,
चपला सी चमक रही थी।

नंदन प्रसून गुच्छों से,
गुम्फित सीमंत सुहावन।
जिसको कुछ ढांक रहा था,
सिर का अंचल अति पावन।
मुक्ता लड़ियों से मण्डित,
वर माँग सुहाग भरी थी।
चूड़ामणि की शोभा से,
मानो सौभाग्य जड़ी थी।

पार्वण शशांक रेखा सी,
टीका की शोभा न्यारी।
आयत ललाट पर लसती,
कुंकुम रेखा अति प्यारी।
झष केतु-केतु से कुन्डल,
श्रवणों में शोभा पाते।
चिक्कन कपोल समरुण थे,
सरसीरुह कोष लजाते।

निर्वाण कोटि सम सुखप्रद,
मुस्कान मान मद हरती।
अकलंक शरद शशि आनन,
शोभा सबको वश करती।

खंजन मृग मीन सरोरुह,
नयनों से शोभा पाते।
मुक्तात्मा ज्यों मुक्तागण,
नासा में अधिक सुहाते।

अरुणाधर विम्बाफल से,
चितवन चेतना बरसती।
कोकिला काकली वाणी,
मुनि का भी हृदय करसती।

थे अंग अंग पर शोभित,
मणिमय महार्घ्य पट भूषण।
मंगलमय विग्रह उनका,
जिसमें न मनागपि दूषण।

हीरक मणि माणिक मुक्ता,
मय रुचिर हार उर थल में।
वात्सल्य पंकरुह जैसे,
उर भव युग वक्षस्थल में।

नाभी गम्भीर त्रिवली युत,
किंकिणी की धुनि अति प्यारी।
पद पद्मों में नूपुर थे,
अति सान्द्र मधुर लयकारी।

अवलोक चाल देवी की,
गजराज हंस सरमाते।
इंगित वचनों से कोकिल,
शुक की सुशिक्षा पाते।

कुंचित मेचक वर कुन्तल,
एड़ी पर्यन्त लटकते।
ज्यों श्वेत कमलिनी ऊपर,
मधुकर अतिमत्त भटकते।

सम्मुख विलोकि देवी को,
ऋषि पत्नी ने सकुचाकर।
सानन्द किया अभिनन्दन,
चरणों में शीश झुकाकर।

सोचने लगी मन में फिर,
क्या ही अपूर्व सुषमा है।
क्या त्रिभुवन में यह शोभा,
इसकी कोई उपमा है।

निर्माण किया होगा क्या?
विधि ने इस रूप सुधा का।
अनुमान किया होगा क्या?
विधि ने इस छवि वसुधा का।

देवियाँ सभी नित मेरे,
ढिग आशिष लेने आतीं।
वे भी ऐसी शोभा से,
सम्पन्न न देखी जातीं।

मुनिवधू कृतांजलि बोली,
शत कोटि नमन आर्या को।
सुस्वागत पद वन्दन है,
शत कोटि नारि वर्या को।

पंकज कंटक का अदभुत,
संयोग हुआ किस कारण।
अभिराम सुधा वसुधा का,
विधि योग हुआ किस कारण।

समझें यदि उचित कृपा कर,
मुझको तो मर्म बतायें।
सहसा निज शुभागमन के,
कारण भी मुझे जतायें।

हे शुभे बतायें सच-सच,
हैं आप कहां से आयीं।
हैं कौन मौन व्रत साधे,
क्या नूतन वाचिक लाईं।

वस्तुतः भवादृक् महिला,
निष्कारण कहीं न जाती।
पर अपने गुप्त मर्म को,
सबको है नहीं बताती।

सुन अरुन्धती की वाणी,
हँस भक्ति वचन मृदु बोली।
अंचल आवृत कर आनन,
मानस में मधुरस घोली।

—: गीत :—

इस परम एकान्त वन में ईश की वरभक्ति हूँ मैं।
विगत कल्मष शान्त मन में मनुजता की शक्ति हूँ मैं।
चतुर विधि की चातुरी का एक मात्र रहस्य सर्जन।
पूजकों की मैं समर्चा और आवाहन विसर्जन।
क्षितिज सी अम्बर पुहुमि की ईश जन अविभक्ति हूँ मैं।
नित्य निष्कल जीव की अनिवार्यता मैं सहज सत्ता।
ब्रह्म की आह्लादिनी मैं हूँ महानर की महत्ता।
गीत की हूँ रागिनी मैं मीत की अनुरक्ति हूँ मैं।

× × ×

भगवान व्यूह सुत बनकर,
हो शिष्य यहाँ आयेंगे।
दम्पति की इस कुटिया को,
निज छवि से सरसायेंगे।

अतएव प्रथम आई हूँ,
उनकी अनन्य मैं दासी।
इच्छा सब पूर्ण करुँगी,
हे ऋषि दम्पति वनवासी।

तुम भूरी भाग भाजन हो,
अनुपम सौभाग्य तुम्हारा।
अब शिष्य बनेगा जिनका,
प्रभु कोसल राज दुलारा।

पहले सुयज्ञ को पाकर,
प्रभु व्यूह रूप निर्धारो।
फिर पूर्ण ब्रह्म रघुवर की,
शोभा भर नयन निहारो।

शार्दूल विक्रीडित

आई सन्मुख ईश शक्ति विमला योषामई विप्र के।
गाई पुत्र सुयज्ञ संभव कथा श्रीराम की शिष्यता।
अन्तर्ध्यान हुई परेश महिषी आश्वस्ति देके पुनः।
खोई शोक अरुन्धती वन बसी ब्रह्मर्षि के संग में।

* श्री राघवः शन्तनोतु *

●

त्रयोदश सर्ग

उपलब्धि

अरुन्धती अनुराग उदधि में,
उमग बैठ निज आश्रम में;
करती थी उपलब्धि समीक्षा
पुलक पूर्ण मन संभ्रम में।
नाच रहा था मन मयूर कर
मधुर कल्पना नव घन की;
अनिर्वाच्य थी दशा वस्तुतः
अरुन्धती के उस क्षण की।

चंद्रकान्त चन्दन चकोर,
चंचल चख चारण चन्द्र किरण;
छन छन कर चाँदनी व्याज से,
करते मधुर अमिय वितरण।
तरणि ताप से त्रस्त व्यस्त,
पक्षी गण दिन भर थके हुए;
निज-निज नीड़ निषण्ण सो रहे,
शशिकर रस से छके हुए।

मन्द-मन्द मारुत झकोर से,
ललित लतायें झुक-झुककर;
करती सुमन वृष्टि देवी पर,
चरण चूम कुछ रुक-रुक कर।
नीरवता के इस परिसर में,
अन्तर रव थी अरुन्धती;
किसी मधुर कल्पना तल्प पर,
हो आसीन निलीन सती।

अहो विधाता स्वयं भरेंगे,
परब्रह्म क्या मेरी गोद;

क्या मेरे ढिग बैठ करेंगे,
पूर्णकाम प्रभु बाल विनोद।
कहाँ असीम कृपा ईश्वर की,
कहाँ क्षुद्रतम मेरा भाग;
सागर जल कैसे सँजो सके,
अहो एक लघु तोय तड़ाग।

यद्यपि प्रथम भक्ति देवी ने,
आकर किया हमें आश्वस्त;
फिर भी समझ योग्यता अपनी,
अभी न मैं मन में विश्वस्त।
अरी महात्वाकांक्षा मेरी,
तू कितनी भोली भाली;
रोपित करना भला चाहती,
नभ में सुरतरु की डाली।

बौने कर से नन्दन वन के,
कुसुमों को चुनने की चाह;
यह हास्यास्पद उद्यम लखकर,
कौन करेगा मुझ पर वाह ?
यह मेरी कामना विधाता,
बोलो कब पूरी होगी;
अम्बर और अवनि की बोलो,
कब समाप्त दूरी होगी।

सचमुच ब्रह्म नराकृति बनकर,
पर्ण सदन में आयेगा;
अपनी बाल सुलभ क्रीड़ा से,
मेरा मन हरषायेगा।
दशरथ कौशल्या सम हमने,
नहीं किया है दुष्कर तप;
ब्रह्म प्राप्ति के लिए कभी भी,
नहीं किया है निश्चित जप।

स्वायंभुव मन्वन्तर में प्रभु ने,
मनु को वरदान दिया;
दम्पति का पितु मातु हेतु,
श्री हरि ने ही आह्वान किया।
बने यहाँ दशरथ कौशल्या,
स्वायंभुव मनु शतरूपा;
प्रभु की यह प्राकट्य परिस्थिति,
मनु दम्पति तप अनुरूपा।

राजभवन को छोड़ भला वे,
परण सदन क्यों आयेंगे;
नृप दम्पति वात्सल्य सुधा को,
कैसे प्रभु ठुकरायेंगे।
तदपि भक्ति देवी की वाणी,
कभी असत्य नहीं होगी।
कृपा अहैतुक कृपा सिन्धु की,
कभी अनित्य नहीं होगी।

यज्ञाधीश सुयज्ञ रूप में,
मेरे यहाँ जन्म लेंगे;
वही सखा बन पूर्ण ब्रह्म के,
दर्शन का भी सुख देंगे।
किन्तु मुझे फिर नये सिरे से,
पूर्व पाठ पढ़ना होगा;
वय तृतीय में भी द्वितीय का
भवन तन्त्र गढ़ना होगा।

कौशिक के क्रोधानल में,
शत पुत्र हुए मेरे स्वाहा;
फिर भी कभी न निज आनन से,
मैंने कहा अरे आहा।
मां होकर भी उन पुत्रों के,
लिए नहीं मैंने रोया;
इन्हीं करों से दैव योग वश,
शक्ति रत्न को भी खोया।

घूँट-घूँट कर पिये हमी ने,
अमित आंसुओं के प्याले;
पड़े हाय उर सरसिज दल में,
बड़े-बड़े दु:ख के छाले।
यह लोकोक्ति यथार्थ हुई,
"सन्तोष डाल फलती मेवा";
आज सफल होती दिखती है,
मेरी प्रथम क्षमा सेवा।

कर विश्वास भक्ति वाणी पर,
कुलपति सहित करूँ साधन;
निष्ठापूर्वक रह कुटीर में,
करूँ ब्रह्म का आराधन।
यह निश्चय कर अरुन्धती,
अब पति सेवा में निरत हुई;
करने लगी प्रतीक्षा प्रभु की,
जगती सुख से विरत हुई।

विधि नियोग से इधर अवध में,
एक नया अध्याय जुड़ा;
प्रभु पद रज लेने हित कवि का,
किंचित कथा प्रवाह मुड़ा।
बनी अयोध्या सूर्यवंशधर,
दशरथ नृपति राजधानी;
कौसल्या कैकेयी सुमित्रा,
तीन मुख्य थी पटरानी।

श्री साकेत लोक भूतल पर,
अवध रूप में अब आया;
सरजू जहाँ सुधा जल बहती,
जहाँ नहीं मत्सर माया।
कोसल देश सुहावन पावन,
भारत का जो हृदय स्थल;
जन्म भूमि कहकर रघुनन्दन,
जिसे स्मरण करते पल-पल।

जिसे स्वर्ग से अधिक कहा,
श्रीमुख से ब्रह्म नरोत्तम ने;
बारंबार प्रणाम किया,
जिसको शिरसा पुरुषोत्तम ने।
अपराजिता तथा सत्या,
साकेत अयोध्या पुरी ललाम;
प्रथम मोक्षदायिका जहाँ प्रकटे,
शिशु रूप परात्पर राम।

सुरपति सखा चक्रवर्ती नृप,
दशरथ कोसलपुर भूपाल;
प्रजा पालते हुए बिताये,
सुत हित जीवन के चिरकाल।
पुत्र प्रतीक्षा निरत भूप के,
षष्ठि सहस्र वर्ष बीते;
फिर भी रहे मनोरथ के घट,
अरे अहो रीते-रीते।

एक बार नृप के मन में,
सुत हेतु सुदु:सह ग्लानि हुई;
चिन्ता-चिता जीर्ण नरपति की,
बनी चेतना छुई मुई।
उस अभाव चिन्तन से नृप ने,
धैर्य राशि तत्क्षण खोई;
निरख भूप चिन्ता कौसल्या,
फूट-फूट करके रोई।

जटिल समस्या समाधान हित,
अब वशिष्ठ आश्रम आये;
कर प्रणाम प्रश्रय विनीत हो,
करुण कथा सब समझाये।
देव ! हमारे साथ बुझ रहा,
आज भानुकुल का दीपक;
यही हो रहा मेरी चिन्ता,
चिता वह्नि का उद्दीपक।

तीन-तीन रानियाँ देव !
सन्मुख होकर सूनी-सूनी;
बढ़ा रही अविराम वेदना,
मेरी चिन्ता दिन दूनी।
चक्रवर्ति साम्राज्य अवध का,
क्या अनाथ हो जायेगा;
क्या कुछ दिन में राजमुकुट,
निरुपाय नाथ ! हो जायेगा।

मदनन्तर दिलीप आदिक पितरों को,
देगा कौन सलिल;
इस चिन्ता से मन कुंजर को,
मग्न कर रहा खेद कलिल।
पितरों का तर्पक कुल वर्धक,
एक पुत्र चाहिए मुझे;
भारत की भविष्णु संस्कृति का,
दिव्य सूत्र चाहिये मुझे।

वन्ध्य देख आश्रम विटपों को,
क्यों चुपचाप रहा माली;
राहुग्रस्त लख चन्द्र सिन्धु क्यों,
शान्त रहा करुणाशाली।
सप्त द्वीप वसुमती रत्न भू,
मेरा क्लेश नहीं हरती;
मुझे पुत्र दे वंश प्रवर्तक
कृपा करें मुनिवर्य व्रती।

यों कह पग पर राजमुकुट धर,
महाराज चुप खड़े रहे;
लोचन युगल पंक्ति स्यन्दन के,
शोक वारि निस्यन्द बहे।
तब वशिष्ठ ने महाराज को,
सब प्रकार से समझाया;
ब्रह्म भक्ति द्वारा संकेतित
कथावृत्त सब बतलाया।

चिन्तामणि के लिए उचित है,
राजन ! यह चिन्ता तेरी;
इस प्रकार प्रभु उत्कण्ठा में,
पूर्णतया सम्मति मेरी।
व्याकुलता के बिना जीव को,
ईश्वर कभी नहीं मिलते;
सूर्य रश्मियों से ही देखो,
सरसी में सरोज खिलते।

व्याकुलता की हुई पराकाष्ठा,
धीरज अब मत खोओ;
फल प्राप्ति के समय वीर !
इस भाँति अधीर न अब होओ।
एक पुत्र के लिए झँखते,
चार-चार शुचि सुत होंगे;
त्रिभुवन विदित भक्त भयहर्ता,
परमवीर अद्भुत होंगे।

चौथे पन में तुमने तपकर,
प्रभु से सुतहित वर पाया;
इसीलिए इस चौथे पन में,
पुत्र प्राप्ति का क्षण आया।
राम रूप परजन्य प्राप्ति हित,
नृप पुत्रेष्टी यज्ञ करो;
परब्रह्म सुत के प्रताप से
जग का दारुण ताप हरो।

ऋष्यशृंग आचार्य बने,
रहकर तटस्थ मैं कार्य सभी;
सावधान सम्पन्न करूँगा,
यही विधा अनिवार्य अभी।
कुछ कारण वश इस मख का,
नृप ! होता नहीं बनूँगा मैं;
अभी न पूछो यज्ञानन्तर,
सकल रहस्य कहूँगा मैं।

नृप सम्मति से ऋष्यशृंग को,
मुनि वशिष्ठ ने बुलवाया;
पुत्र जन्म हित पुत्रेष्टी,
शुभ यज्ञ शास्त्रतः करवाया।
भक्ति सहित ऋङ्गी आहुति से,
अति प्रसन्न हो वैश्वानर;
प्रकटे चारु चरू कर लेकर,
दिव्य वेश पट भूषण धर।

दिया भूप को हवि पावक ने,
औ विभाग विधि बतलाया;
नृपति बाँटने में न भूल हो,
सावधान कर समझाया।
कौसल्या को अर्ध कैकेयी हैं,
तुरीय चरू में अधिकृत।
चतुर्थांश के दो भागों से,
करो सुमित्रा को सत्कृत।

यथादिष्ट नृप ने तीनों को,
सादर हवि का दान किया;
इस प्रकार हवि द्वारा प्रभु का,
तीनों में आधान किया।
कौसल्या कैकेयी सुमित्रा,
गर्भ ब्रह्ममय धारण कर;
हुई सुशोभित राजभवन में,
शोभा शील तेज निर्भर।

उधर अग्नि ने मुनि वशिष्ठ को,
नयन सयन से पास बुला;
परस शीश पर निजकर पंकज,
द्विज को अधिक निकट बिठला।
बोले विप्र वशिष्ठ तुम्हारी,
क्षमा आज ही सफल हुई;
यह भविष्णु भूमिका तुम्हारे लिए,
आज ही विमल हुई।

हव्य शेष देता हूँ तुमको,
पाकर इसको अरुन्धती;
प्रभु के व्यूह सुयज्ञ गर्भ से,
होगी मंगल गर्भवती।
यह निर्दोष व्यूह ईश्वर का,
रघुपति सख्य निभायेगा;
मुनि दुर्लभ भगवदानन्द भी,
तुमको यही दिलायेगा।

प्रभु के साथ सभी परिकर भी,
लेते हैं अवतार यहाँ;
उनकी लीला में सहभागी,
बनते हैं शृंगार यहाँ।
प्रभु के साथ प्रकट होकर वे,
साथ उन्हीं के भाव महित;
होते हैं परिकर पुनीत ये,
प्रभु पद पंकज भक्ति सहित।

अतः आपका यह पुनीत शिशु,
बन राघव का पावन मित्र;
भावुक जन के लिए बनेगा,
भव सागर का विषद वहित्र।
यज्ञ प्रसाद हव्य से इसका,
होगा जन्म अमल अभिराम;
इस कारण हे विधि सुत ! रखना,
शिशु का नाम सुयज्ञ ललाम।

इस प्रकार समझाकर पावक,
हुए वहीं पर अन्तर्धान;
मुनि ने किया हव्य द्वारा तब,
अरुन्धती में गर्भाधान।
प्रभु लीला हित अरुन्धती,
अब हुई दिव्य अन्तर्वत्नी;
हुई अलौकिक आभा मण्डित
ब्रह्ममयी वशिष्ठ पत्नी।

नहीं उसे दोहद विडम्बना,
नहीं उसे किंचित् पीड़ा;
करता व्यूह ब्रह्म ही जिसके
गर्भाशय में कल क्रीड़ा।
नहीं वदन पाण्डुर देवि का,
नहीं गर्भ का कुछ गौरव;
क्योंकि खेलता ब्रह्म उदर में,
जो हरता जन का रौरव।

चतुष्पाद सम्पन्न ब्रह्म अब,
खेल रहा गर्भाशय में;
जिसकी सत्ता सदा विलसती,
अमित कोटि भुवनाशय में।
कौसल्या, कैकेयी सुमित्रा,
त्रिभुवन पति की जननी बन;
अरुन्धती के साथ कर रही,
दरस प्रतीक्षा प्रमुदित मन।

तेजोमय पत्नी मुख पंकज,
निर्निमेष दृग से अवलोक;
वशी वशिष्ठ उमड़ता आनन्द,
रख न सके निज मन में रोक।
बोले जाकर निकट प्रफुल्लित,
वचन-वचन रचना नागर;
देवि ! लग रहा आज मुझे,
अतिशय सुन्दर यह भवसागर।

इसके बिना कहाँ है सम्भव,
रामरत्न का आविर्भाव;
इसीलिए है उपादेयता,
इसमें विमल मनुज सद्भाव।
युग-युग का अभिलाष हमारा,
प्रिये ! शीघ्र होगा साकार;
तेरी विमल कोख से लेगा,
व्यूह ब्रह्म भी निज अवतार।

तेरा शिशु परमेश्वर के ही,
संग-संग में खेलेगा;
निज सद्गुण से कृपा सिन्धु की,
कृपा पात्रता ले लेगा।
इस बालक के मात पिता बन,
हम भी होंगे बड़भागी;
इस नाते से ईश प्रेम के,
हम भी होंगे सहभागी।

कौन गृहस्थाश्रम को कहता,
घोर नरकप्रद जटिल जघन्य;
परब्रह्म भी इसके कारण,
हो जाते हैं अतिशय धन्य।
यही ब्रह्म को पुत्र बनाकर,
अपने अङ्क खिलाता है;
पलक पालने पर ईश्वर को,
यही सदैव झुलाता है।

तीनों अन्य आश्रमों का भी,
यही सदैव पिता माता;
इसके बिना न कोई आश्रम,
कभी सफलता को पाता।
नरक रूप होता परन्तु यह,
जब इसमें आती आसक्ति;
यही स्वर्ग अपवर्ग अनूठा,
जब इसमें आती हरिभक्ति।

मैं कहता आसक्ति मृत्यु है,
अनासक्ति ही है जीवन;
अतः गृही जन सावधान हों,
अनासक्त, मन करें भजन।
इस प्रकार चर्चा में बीते,
गर्भ काल के द्वादश मास।
चैत्र शुक्ल नौमी दिन मंगल,
ऋतु वसन्त का विमल विलास।

अति पुनीत अभिजित मुहूर्त है,
प्रकृति सुन्दरी मुसुकाती;
हरि-हरि कर सरजू की लहरें,
लहर-लहर में लहराती।
मध्य दिवस में भानु विलसते,
सम शीतोष्ण पवित्र दिवस;
सुरगण विविध विमान मध्य से,
सुमन बरसते हरष-हरष।

अग्निहोत्र की अर्चि कर रही,
रघुनन्दन का अभ्यर्चन;
नन्दन वन के कुसुमों से,
सुरगण प्रसन्न करते अर्चन।
शीतल मंद सुगन्ध समीरण,
दिव्य प्रेरणा रहा विखेर;
पावन परिमलयुत पराग रज,
राशि बरसता कर बहु ढेर।

सरयू सलिल निमज्जन करके,
रहे प्रतीक्षा में रत सन्त;
पुनः पुनः जयकार लगाते,
जय अनन्त जय-जय भगवन्त।
विवुध वृन्द समवेत हुए सब,
नभ में दुन्दुभियाँ बज़ती;
सुर बधूटियाँ कनक थाल में,
मङ्गल नीराजन सजतीं।

सहसा कौसल्या मन्दिर में,
प्रकट हुआ अति दिव्य प्रकाश;
प्रकट हुए प्राची शशांक सम
परब्रह्म प्रभु विश्व निवास।
नील तामरस नील नीलधर,
नील रत्न सा श्यामल तन;
जिस पर बाल दिवाकर जैसा,
बिलस रहा था पीत बसन।

घनीभूत तमराशि मनोहर,
मेचक कुञ्चित थे कुन्तल;
मकर केतु केतन समान युग,
गण्डस्थल लम्बित कुण्डल।
सारस शरद शशाङ्क विभा
हर आनन सुषमा अति न्यारी।
दमक रही जिसमें दामिनि-सी,
दशन पंक्ति अतिशय प्यारी।

हस्ति सुण्ड भुजदण्ड सुमांसल,
भूषण वर केयूर सुभग;
कङ्कण रुचिर हार उर आयत,
भ्राज रहे श्रीवत्स सुनग।
ब्रह्म जन्म महि नाभि सरोवर,
उरु जानुवर चरण कमल;
जिसकी नखमणि चन्द्रकान्त भव,
द्रवीभूत जाह्नवी विमल।

धनुर्बाण प्रभु कर पंकज में,
अतिशय मन को भाते थे;
मनो इन्द्रधनु सहित सान्द्र,
वारिद उडुगण छबि छाते थे।
कौसल्या अनुरोध मानकर,
हुए बालबपु लीला धर;
"कहाँ कहाँ" कर रोदन कौतुक,
केलि हेतु शिशु हुआ मुखर।

इसी भाँति कैकेयी सुअन का,
हुआ मनोरम आविर्भाव;
युगल पुत्र रत्नों को प्रकटा,
देवि सुमित्रा अति चित चाव।
अरुन्धती ने भी उपजाया,
व्यूह ब्रह्म वर तनय सुयज्ञ;
जिसकी मैत्रि हित लालायित,
पूर्ण ब्रह्म राघव सर्वज्ञ।

प्रमुदित बिबुध बधाई बाजी,
नाचें कोसल नर नारी;
जय-जय गान करें सुर किन्नर,
जयति राम जय असुरारी ।
आज अवध आनन्द उदधि सा,
मर्यादा तज लहर रहा;
सबके मन में ब्रह्म दरश का,
हर्ष अनूपम हहर रहा ।

—: गीत :—

बधाई अनुपम बाज रही ।
आज अवध रघुनन्दन प्रकटे सुरतिय मंगल साज रही ।
नाचहिं गावहिं अवध लुगाई, चहु दिसि अगर अबीर उड़ाई ।
दशरथ उर आनन्द न समाये, मुदित कौसिला राज रही ।
मणि मुक्ता वर रत्न लुटावें गज, रथ, धेनु देत सुख पावें ।
अवध नारी सब मंगल गावें, चहुँ दिशि सुषमा छाज रही ।
बधाई अनुपम बाज रही ॥

—: गीत :—

आज मंगल गीत गाओ आज शुभ बाजे बजाओ ।
मनुजता का त्राण करने अवध में अवतार लेकर ।
पूर्ण व्यापक ब्रह्म आया आज सब खुशियाँ मनाओ ।आज मंगल०
थिरकता रितुराज सुन्दर हैं सभी हँसती दिशायें ।
जब सभी होंगी हमारी मंजु मधु राका निशायें ।
आज पुर तोरण सजाओ आज मंगल गीत गाओ ।
बिबुध गण लंकेश कारागार से अब मुक्त होंगे ।
संत चातक हरि कृपा कादम्बिनी संयुक्त होंगे ।
आज नव माला बनाओ आज मंगल गीत गाओ ।
सुकृत दशरथ कौसिला का आज ही साकार होगा ।
थिरकता नृप के अजिर में राम शिशु सुकुमार होगा ।
आज शहनाई बजाओ आज मंगल गीत गाओ ।
भर रही दिशि विदिश को यह सोहिलों की धुन मनोहर ।
अगर अबीर गुलाल अर्गज पंक से गलियाँ सुखद तर ।

आज जीवन लाभ पाओ आज मंगल गीत गाओ।
पालना पर लसित ललना नृपति ललनायें झुलातीं।
कौसिला, कैकेयी, सुमित्रा, बाल केलि प्रबन्ध गातीं।
आज मन मुक्ता लुटाओ आज मंगल गीत गाओ।
राम लक्ष्मण भरत रिपुहन कनक मर्कत मधुर जोरी।
संग मीत सुयज्ञ खेलैं छवि अनुपम निरख लोरी।
अब इन्हें मन में बसाओ आज मंगल गीत गाओ।

× × ×

अरुन्धती के भाग्य गगन में,
नव प्रभाव अनुपम आया;
फिर सूखते सरोरुह वन में,
अनिर्वाच्य रस लहराया।
फिर से नव पल्लव रसाल पर,
बैठ कोकिला ने गाया;
फिर प्रसून मकरन्द लोभ वश,
मधुप मंजुतर मड़राया।

फिर से शुष्क पयोदों ने,
की वत्सल रस प्रय की वर्षा;
फिर से बाल सुलभ किलकन ने,
जननी का मन आकर्षा।
फिर कौशेय विमल अंचल में,
लिपटी बाल तनय तन धूल;
फिर उजड़े आराम मध्य,
खिल गये मनोहर मंजुल फूल।

फिर वशिष्ठ की बाँहों ने,
शिशु सुत स्पर्श का सुख पाया;
फिर मुखचन्द चूमने हित,
मुनि मन: सिन्धु अति अकुलाया।
फिर अरुन्धती के आँगन में,
बाल केलि सम्भ्रम आया;
ऋषि दम्पति ने फिर अतीत को,
प्रमुदित मन से दुहराया।

अरुन्धती आनन्द उदधि में,
निश दिन मग्न रहा करती;
कौसल्या सी मन मन्दिर में,
सुस्मित दीप धरा करती;
सुत सुयज्ञ का लालन पालन,
प्रेंखण प्रोक्षण मुख चुम्बन;
ऋषि दम्पति के जीवन के,
बन गये हर्ष के आलम्बन।

जान ब्रह्म अवतार सुवन को,
ले उछंग में हलरावें;
लता ललित पालना मध्य,
बालक मराल को झुलरावें।
कभी चूम पयपान कराती,
कभी अंक में बिठलाती;
कभी सुला पल्लव शय्या पर,
शयन गीत सुन्दर गाती।

—: गीत :—

सो जा सो जा सलोने ललना तोहे नींद बुलावे।
सो जा सो जा पलक पलना तोहे नींद बुलावे।
आयी रजनी चमके तारे तुम वशिष्ठ के कुल उजियारे।
सो जा निदरिया तोहे पुकारे सोजा-सोजा आँगन खेलना। तोहे०
तुम राघव के मीत सलोने कोई न तुम्हें लगा दे टोने।
हृदय कमल में मधुकर छोने, सोजा-सोजा भुवन मोहना। तोहे०

× × ×

इस प्रकार शिशु के पालन में,
पल सम दिवस बीत जाता;
पुनः रात फिर से प्रभात,
फिर निशा पुनः शुभ दिन आता।
अरुन्धती को नहीं समय का,
ज्ञान कथंचित भी रहता;
उसका मन मतंग शिशुवर के,
प्रणय धार में नित बहता।

राज महल से दूर बना था,
कानन में ऋषि का आश्रम।
फिर भी नृप का चलता रहता,
ऋषि समीप आगम निर्गम।
अरुन्धती नित आशीष देने,
कौसिल्या समीप जाती;
निरख राम शिशु रूप मनोहर,
धन्य स्वयं को ठहराती।

मन में कहती अहो भाग्य,
मेरा कैसा है पुण्य प्रवर;
ब्रह्म सनातन बाल रूप धर,
जिसको हुआ नयन गोचर।
पुंजीभूत तत्व श्रुति का,
यह साध्य समस्त साधनों का;
मूर्तीभूत नयन का फल यह,
धन है यही निर्धनों का।

कौसल्या के आज अंक में,
वही पुत्र बन आया है;
जिसको श्रुतियों ने अनेक विधि,
नेति-नेति कह गाया है।
ब्रह्म सनातन जो निर्गुण था,
सगुण ब्रह्म वह है नूतन;
पुरा पुरातन अधुनानूतन,
निर्विकार यह सच्चिदघन।

देख अलौकिक रूप राशि यह,
निश्चित मैंने यही किया;
यही बनेगा आगे चलकर
दिनकर कुल का दीप्त दिया।
यह अपूर्व आनन्द सुधारस,
किस प्रकार मुनिवर पायें;
कैसे इसे निहार महामुनि,
ब्रह्म बोध भी विसरायें।

अथवा मैं निरुपाय इस समय,
है स्वतन्त्र यह परमेश्वर;
मुनि दर्शन हित अवश करेंगे,
कोई लीला लीलाधर।
जाकर केवल ब्रह्मपुत्र को,
राम दरश हित ललचाऊँ;
सुना-सुनाकर रूप माधुरी,
उनमें उत्कण्ठा लाऊँ।

पत्नी का कर्त्तव्य यही,
पति को रघुवर से मिला सके
पति के मानस में रघुपति की,
भक्ति कमलिनी खिला सके।
मेरे पति का एक महातप,
श्रुतियों का स्वाध्याय विमल;
सदा व्यस्त रहते उसमें,
अवकाश न पाते कतिपय पल।

अतः आज मैं अग्निहोत्र में,
कुछ विलम्ब कर जाऊँगी;
हेतु पूछने पर प्रभु की,
शिशु झाँकी मधुर सुनाऊँगी।
निश्चित प्रभु शिशु रूप श्रवण कर,
मुनिवर मन ललचायेगा;
वही आंकुली भाव उन्हें,
राघव समीप ले आयेगा।

एक बार यदि ऋषि नयनों से,
निरख सकेंगे राघव को;
फिर तो स्वयं भूल जायेंगे,
पल में शास्त्र महार्णव को।
फिर उनकी सम्मति से मैं,
सुयज्ञ को भी ले आऊँगी;
जोड़ राम चरणों से जननी,
का दायित्व निभाऊँगी।

माता वही पुत्र को जो,
रघुपति चरणों में ले आती;
जननी वही भक्ति जो जनती,
पुत्र वत्सला कहलाती।
जो केवल निज क्षुद्र स्वार्थवश,
सुत को जग में ही रखती।
माता नहीं मृत्यु वह तो है,
साँपिन ज्यों सुत को भखती।

इस प्रकार खोई अरुन्धती,
कौसिल्या समीप आयी;
"स्वस्ति-स्वस्ति" कह शिशु राघव को,
ले उछंग अति हरषायी।
सभी रानियों ने सादर कर,
गुरु पत्नी का पद वंदन;
चरणोदक ले भक्ति भाव से,
किया सती का अभिनन्दन।

प्रणति पूर्ण कर नमित अंश,
फिर बोली बचन बड़ी रानी;
बहुत दिनों के बाद कृपा कर,
हुई उपस्थित महरानी।
हम किंकरियों से क्या कोई,
ऐसी भीषण भूल हुई;
जिससे अन्तःपुर को दुर्लभ,
सती चरण की धूल हुई।

यद्यपि यह अवरोध तथापि,
सती के लिए विरोध नहीं;
अरुन्धती के लिए समावृत,
हुआ कभी अवरोध नहीं।
बोली अरुन्धती कौसल्ये,
क्षण भर भी न मुझे अवकाश;
शिशु पालन पति की शुश्रूषा,
कहो कहाँ है समय निकाश।

कौसिल्या ने कहा बीच में,
देवि नहीं मानें अनुचित;
लायें यहीं सुयज्ञ सुवन को,
मुनिवर को यदि लगे उचित।
"सोचूँगी" कह के गुरु पत्नी,
सपदि उटज को चली गयी;
मन में करती रामभद्र की,
मधुर कल्पना नई-नई।

इधर ऊषा के शित अंचल में,
निज कर पीत पराग लिए;
उदित हो रहे पूषा पोषित,
प्रभु पद प्रेम पियूष पिये।
मुनि वशिष्ठ के अग्नि होत्र की
बेला का कुछ अतिक्रमण;
आज हो रहा इस चिन्ता में,
करता मुनि का चित्त भ्रमण।

बटुओं से साश्चर्य पूछते,
नहीं तुम्हारी माँ आयी;
आज अहो क्यों अग्निहोत्र में,
सती कर रहीं अलसायी।
बार-बार पूछते शिष्य से,
कहाँ गयी तेरी माता;
किसे ज्ञात था कौन आज,
इनका उत्तर भी दे पाता।

इधर जागकर चौंक रो रहा,
शिशु सुयज्ञ कह माँ-माँ-माँ;
जिसको कुटिया के बाहर,
वन कन्यायें थी रही घुमा।
तब तक राजमहल से देवी,
मन्द-मन्द चलती आयीं;
सिमटी हुई मनोभावों में,
बाहर से कुछ शरमायीं।

वातावरण विलोक उटज का,
अस्त व्यस्त कुछ प्रथम हँसी;
फिर कर व्याकुल भाव प्रदर्शन,
पर्ण सदन में वे प्रविसीं।
रोते सुत को ले उछंग में,
आनन चूम दुलार किया;
राम-राम कह थपकी देकर,
अंचल में निज छिपा लिया।

कहा वत्स अब क्यों रोता है,
तेरे हित कर दिया उपाय;
इसीलिए हो गया व्यतिक्रम,
कुपित हुए होंगे मुनिराय।
तुमको अब रघुचन्द्र-चन्द्र मुख,
छवि पीयूष पिलाऊँगी;
कल ही सुत सुयज्ञ को मैं तो,
राजभवन ले जाऊँगी।

उस अनन्त सत्ता को पाकर,
सुत सुयज्ञ होगा कृत कृत्य;
कभी न रोयेगा प्रभु के ढिग,
हरि समीप विहँसेगा नित्य।
सपदि व्यवस्थित होकर,
पति के पास सती सकुची आयी;
हृदय उमड़ता हर्ष जलधि,
प्रभु दर्शन से अति हरषायी।

बोले वशी वशिष्ठ प्रिये,
किस कारण आज विलम्ब हुआ;
तेरे बिना समाकुल सहसा,
स्तम्भित शिष्य कदम्ब हुआ।
बोली सती कृतांजलि मुनिवर,
मुझको आर्य क्षमा कर दें;
जान किंकरी अग्निहोत्र,
अपराध जनित पातक हर लें।

कौसिल्या के भवन प्रात ही,
आज आशिषा देन गयी;
निरख सुवन सुकुमार सलोना,
हृदय हरष की लहर ठई।
निकल रहे थे भूप गोद ले,
उस आभामय बालक को;
श्याम तामरस सरस सान्द्र,
जलधर समान जन पालक को।

चिक्कन चिकुर निकर घुँघराले,
भाल तिलक युग वर रेखा;
समरुन तरुण कंज द्युति आनन,
पार्वण शरद चन्द्र लेखा।
कुडमल कुन्द दाडिमी रद रुचि,
अरुण अधर पर राज रही;
नासा रुचिर सकज्जल लोचन,
खंजन अलि लख लाज रही।

पीत झिंगुलिया श्यामल तन पर,
झिलमिल-झिलमिल झलक रही;
नील जलद पर मनो दामिनी,
दमक-दमक छवि छलक रही।
मदन बाल सरसिज स्वरूप रस,
पीने लगा मनो मधुकर;
कर कंकण वघनहा हार वर,
कटि तट किंकण मधुर मुखर।

शिरिश सुमन सुकुमार मनोहर,
चतुश्चिह्नयुत कमल चरण;
नूपुर राजहंस मुनि मंडित,
प्रणत शोक संताप हरण।
निखिल लोक लावण्य सिमिट कर,
दशरथ के गृह ज्यों आया;
कौसल्या का सुकृत बाल वपु,
मुनिधन अथवा सरसाया।

अथवा सृष्टि चातुरी विधि ने,
शिशु राघव तन से पायी;
छवि ललना ने मनोमाधवी,
सुछवि सलिल से नहलायी।
नामकरण के समय आपने,
साधारणतः है देखा;
अब तो और अधिक उमड़ी है,
रूप चन्द्र षोडष लेखा।

यूँ कह हुई निमग्न राम,
अनुराग उदधि में अरुन्धती;
श्याम सरोज विलोचन युग से,
नीर ढराने लगी सती।
मुनिवर ने फिर अग्नि होत्र का,
श्रद्धापूर्ण विधान किया;
सुत सुयज्ञ को ले उछंग निज,
शिशु राघव का ध्यान किया।

वेद वेद्य परतत्व ब्रह्म जो,
श्रुतियों का है निहित निधान;
बालक बन दशरथ घर आया,
वही परात्पर श्री भगवान।
उस अनन्त सौन्दर्य राशि को,
करने हेतु नयन गोचर;
किया पूर्व मनु शतरूपा ने,
दारुण तप मुनिजन दुष्कर।

मैने किया न तप कोई भी,
किया न किंचित आराधन;
शब्दाटवी मध्य हा भटका,
जीवन भर अक्षत व्रत बन।
किन्तु भाव मेरा है निर्मल,
यही एक मेरी आशा;
पूर्ण करेंगे अतः हमारी
श्री राघव यह अभिलाषा।

आवो-आओ कृपा जलद,
अभ्र अँखिया मेरी प्यासी हैं;
हो निराश निर्गमन चाहते,
सहचर घट के वासी हैं।
नामकरण के समय तुम्हें,
सामान्य दृष्टि से था देखा;
गुरु गौरव के कारण ही
मैंने न सूक्ष्मता से देखा।

—: गीत :—

ओ नन्हें मुन्ने राघव जरा सामने तो आ।
ओ मेरे प्यारे लाला जरा मन्द मुसुका ॥ टेक ॥
तब दर्शन हित व्याकुल नैना।
भूख न बासर नींद न रैना।
करुणा निधान मुझे यों न तरसा ॥ ओ नन्हें ॥
तुम मेरे नैनों के तारे।
जन मानस के एक सहारे।
कौसिला कुमार यों बहाना न बना ॥ ओ नन्हें ॥
तुम मेरे मन वन में खेलो।
लालन मेरा सब कुछ ले लो।
लाडिले लजीले जरा नाच तो दिखा ॥ ओ नन्हें ॥
रामलला मेरे सन्मुख आजा।
अपना हिमकर बदन दिखा जा।
"गिरिधर" के दुलारे मुझे शीघ्र अपना ॥ ओ नन्हें ॥

× × ×

बना पुरोहित विधि निदेश से,
एक आप के लिए प्रभो;
रघुकुल का दायित्व निभाया,
एक आपके लिए विभो।
दर्शन दो हे राम ! कृपा कर;
अब न मुझे तरसाओ तुम;
दारुण विरह व्यथा पावक से,
अब न अधिक झुलसाओ तुम।

यों चिन्तन में मग्न विप्र ने,
सरजू तट पर जा करके;
अनशन व्रत प्रारम्भ किया,
अति दारुण नेम निभा करके।
जब तक नहीं निहारुँगा,
वह श्याम रूप हे करुणार्णव;
तब तक नहीं अन्न जल लूँगा,
सत्य-सत्य कहता राघव।

इस प्रकार बित गये तीन दिन,
बढ़ा ब्रह्म ऋषि के मन ताप;
इधर दरश योजना बनायें,
लीला कर लीलाधर आप।
अजर अमर विशोक प्रभु ने भी,
किया नजर का आडम्बर;
लगे अकारण आप ठुनकने,
कर रुह से दृग मल-मल कर।

नीरज नयन नीर ने धोया,
खंजन नयन महित अन्जन;
हुए अनरसे आज आप,
रस रूप स्वयं सेवक रन्जन।
नहीं आज पय पान कर रहे,
आनन अति रूखा-रूखा;
रोते रुक-रुककर निष्कारण,
अरुणाधर पल्लव सूखा।

कौसल्या पयपान कराती,
मुख में नहीं पयद धरते;
बाल केलि वश चिहुक-चिहुक कर,
बार-बार सिसकी भरते।
माता निज उछंग में लेकर,
बार-बार हलराती थीं;
देवि सुमित्रा सुभग खिलौने,
राघव के हित लाती थीं।

किन्तु हुए सब यत्न निरर्थक,
बढ़ा अनरसापन अतिशय;
व्याकुल हुई राजमहिषी सब
व्यापा मन में भय विस्मय।
जिसकी कृपा कोर में होता,
सकल अनिष्टों का उपराम;
उस पर यह आशंका ?
यह है माँ की ममता का विभ्रम।

इधर बाल राघव को लेकर,
सभी रानियाँ अधिक उदास;
तब तक अरुन्धती आईं,
आशीष देने मन अति उल्लास।
देख व्यथित रनिवास सती ने,
मन में अति विस्मय पाया;
पूछा सखियों से विस्मित हो,
किस पर क्या संकट आया।

कौसल्या ने स्वयं कहा,
शिशु राघव पर आया संकट;
आज अनरसे देवि ! भोर से,
कर न सके निज क्लेश प्रकट।
ठुनक-ठुनक मेरे राम रो रहे,
होकर के अतिशय बेचैन;
नीरज नैन नीर से पूरित,
नहीं आज सोये भर रैन।

रहते नहीं खड़े बैठे ये,
सुनते नहीं तनिक चुचकार;
बार-बार पय पान कराकर
हारी करके बहुत दुलार।
देव पितर पूजे अनेक विधि,
इनका किया तुलाघृत दान;
मृत्युञ्जय का जाप यथा विधि,
किया सुमन्त्रों का आह्वान।

किसी दुष्ट नारी ने इन पर,
दुष्ट दृष्टि का किया ग;
इसीलिए मेरे होते हैं,
निष्फल देवि ! सभी उद्योग।
लख अरुन्धती ने राघव को,
समझ दिव्य मुनिवर का भाव;
बोली कौसल्या से सादर,
देवि न किंचित करुँ दुराव।

चौथेपन में देवि ! तुम्हें हैं,
प्राप्त हुए शिशुवर राघव;
नहीं वस्तुतः तुमको रानी !
सुत पालन का कुछ अनुभव।
सबको तुम सामान्य भाव से,
राघव को दे देती गोद;
उसका की परिणाम आज,
अवरुद्ध हुआ यह किमपि विनोद।

पर चिन्ता की बात नहीं,
इसका भी एक उपाय सरल;
ईश्वर की करुणा से होगा,
निश्चित यह उद्योग सफल।
मैंने सुना तुम्हारे गुरुवर,
नजर झाड़ने का शुचि मंत्र;
पूर्ण प्रयोग विधा से हरते,
कुटिल तन्त्रियों के भी तन्त्र।

उन्हें बुलाकर शीघ्र यथाविधि,
"झाड़ फूँक" करवा लो तुम;
चिर निरोग हित शिशु माथे पर,
ऋषि का हाथ धरा लो तुम।
सरयू के अति पावन तट पर,
अभी कर रहे कोई व्रत;
बुलवा लो द्वारा सुमन्त्र के,
"झाड़-फूँक" हित उन्हें तुरन्त।

भेजा तत्क्षण कौसल्या ने,
सचिव साथ गुरु को संदेश;
सुनी नजर की बात हर्ष से,
खुले नेत्र अब विगतोन्मेष।
अहो ! दिव्य लीला लीलाधर,
जिसे जानते केवल आप;
मेरे लिए आपने प्रस्तुत किया,
ललित शिशु केलि कलाप।

कौन लगाये नजर आपको,
जिसके पास नहीं है ज्वर;
शंकर की भी नजर न ठहरे,
कैसी उस पर लगे नजर;
निश्चित दर्शन देने के हित,
प्रभु ने पास बुलाया है,
आज हमारे जीवन में,
सबसे पुनीत दिन आया है।

यों विचार ले हरे-हरे कुश,
कह जय राघव हरे हरे;
आये अन्तःपुर तुरत मुनि,
मन में मोद प्रमोद भरे।
निर्निमेष नयनों से मुनि ने,
रूप निहारा जी भरके;
झाड़ फूँक प्रारम्भ किया,
सुन्दर नरसिंह मंत्र पढ़ के।

नमो नृसिंह महाबल व्यापक,
जय जय कनक कशिपु के काल,
दूर करो टोने जादू सब,
शिशु राघव के तुम तत्काल।
छू-छू करके फूँक लगाई,
प्रभु मस्तक पर कर परसे;
लगे राम किलकने प्रफुल्लित,
लख रानी महीप हरषे।

धाय गोद से गोद लिए मुनि,
मन से अतिशय अनुरागे;
सजल नयन तन पुलक प्रेममय,
सुख से रोम-रोम जागे।
कहा तजो चिन्ता नृप दम्पति,
यह सामान्य नहीं बालक;
निर्गुण निराकार निरुपद्रव,
निखिल लोक का यह पालक।

मेष, सूर्य, कुज, मकर, तुला, शनि,
कर्क, वृहस्पति झष के कवि;
परम उच्चग्रह पाँच पड़े हैं,
होगा बालक रघुकुल रवि।
निर्मल कीर्ति दिगन्त व्यापिनी,
शिशु सब वैभव पायेगा;
विजय वैजयन्ती रघुकुल की,
सुरपुर में फहरायेगा।

इसके चरित उदात्त विश्व के,
लिए सिद्ध होंगे आदर्श;
इसकी धवल कीर्ति से भासित,
होगा भास्वर भारतवर्ष।
राम नाम अभिराम कामतरु,
सकल मंगलों का मंगल;
सच पूछो तो राम शब्द का,
अर्थ अनूप राष्ट्र मंगल।

राका रजनी भक्ति राम की,
राम नाम है पूर्ण निशेष;
अपर नाम नक्षत्र निवासी,
भक्त व्योम उर मध्य अशेष।
इससे पराभूत हो रावण;
दुर्मद दनुज लोक रावण
दल बल सहित प्रेत पति पुर का,
वासी होगा विद्रावण।

राम लखन रिपुदमन भरत संग,
मेरा अति प्रिय तनय सुयज्ञ;
मित्र भाव से सदा रहेगा,
वेद पुराण शास्त्र सर्वज्ञ।
दे आशीष गये गृह गुरुवर
विपुल दाक्षिणा भी पायी;
तब सुयज्ञ सुत को अरुन्धती,
राजभवन में ले आयी।

किलका बाल मराल निरखकर,
अपना नित्य चिरंतन मीत;
प्रभु भी बिछुड़ा व्यूह प्राप्त कर,
हुए निरतिशय भाव परीत।
अब अरुन्धती राजभवन में,
अधिक समय तक रहती है;
केवल प्रहर एक में मुनि का,
अग्निहोत्र निरबहती है।

पाँचों कुँवर मनो ईश्वर के,
पाँच रूप ही आये हैं;
पाँचो भूतो से अतीत वो,
पंचवाण मन भाये हैं।
राजसुतों के साथ हुआ,
गुरु सुत सुयज्ञ का भी पालन;
अरुन्धती की देख-रेख में,
करें सुमित्रा संचालन।

क्षण भर के भी लिए राम से,
नहीं सुयज्ञ पृथक होते;
मणि विहीन फणि ज्यों रघुपति,
बिन सकल चेतना ही खोते।
राघव भी भूलकर मित्र को,
निज उच्छिष्ट नहीं देते;
गुरु सुत का ही जूठन,
फिर-फिर अनुनय करके ले लेते।

बाल्यकाल में भी मर्यादा,
मर्यादा पुरुषोत्तम की;
सपने में भी डिगा न पायी,
लीला ललित नरोत्तम की।
कभी न चरण स्पर्श कर सके,
राघव का गुरु पुत्र सुयज्ञ;
देते रहे उन्हें अति आदर,
क्रीड़ाओं में भी सर्वज्ञ।

बाल सखा सब संग खेलते,
सरयू तट पर रघुवर के;
अविच्छिन्न अनुराग प्राण,
प्रिय परिकर धर्म धुरन्धर के।
बार-बार हँस खेल खेलाना,
स्वयं जीतकर जाना हार;
यही नीति थी शिशु क्रीड़ा में,
मित्र वर्ग मन का शृंगार।

प्रभु के संग सुयज्ञ को दी,
मुनिवर ने धनुर्वेद शिक्षा;
पाँचों की सम्पन्न हुई,
एक साथ रहस्य मन्त्र दीक्षा।
एक बार एकान्त प्राप्त कर,
राघव विधु आनन अवलोक;
कहने लगे सुयज्ञ जोड़ कर,
युगल नीर नयनों में रोक।

जान गया मैं तुम्हें तत्वतः
प्राणि मात्र के तुम स्वामी;
अनिर्वाच्य अद्वैत रूप तुम,
घट-घट के अन्तर्यामी।
रावण वध कर भूमि भार,
अपहरण हेतु मानव अवतार;
लिए आपने दशरथ के गृह,
रूप शील गुण पारावार।

—गीत—

नहीं बोलते क्यों नहीं बोलते क्यों ?
अरे स्थाणु बन आप बैठे निठुर हो।
सुथल वेदना पर नहीं डोलते क्यों ?
तुम्हारे लिए थाल मैंने सजाये।
रही मात्र कोमल करों की अपेक्षा
तुम्हारे लिए गीत मंगल बनाये।
रही मात्र मंजुल स्वरों की समीक्षा
बसन्ती बहारों में झुरमुट से आकर।
सरस कोकिला रस नहीं घोलते क्यों ?
शरद इन्दु मण्डल में घूँघट छिपाये।
तनिक मुड़के तिरीछे मधुर मुसकुराये।
निठुर हो परीक्षा की इस तूलिका पर।
हमारे प्रणय का वजन तौलते क्यों ? नहीं बोलते— ॥

× × ×

जन्म-जन्म की प्रीति पुरानी,
मेरे तुम्हीं पुरातन मीत;
इसीलिए नित नव बनते हैं,
मधुर भाव के मंगल गीत।
जीव मात्र के एक सुहृद तुम,
इस प्रकार कहती स्मृतियाँ;
"द्वा सुपर्णा"तुमको कह-कहकर,
नेति-नेति कहती श्रुतियां।

पर एक बात बताओ राघव,
मुझे तो नहीं भुलाओगे;
बार-बार कहकर सुयज्ञ,
मुझको तुम गले लगाओगे।
मैं अल्पज्ञ जीव माया वश,
माया मुक्त तुम्हीं सर्वज्ञ;
भले भुला दूँ तुम्हें नाथ,
पर भूल न जायें तुम्हें सुयज्ञ।

आगे का इतिहास तुम्हारा,
बहुश: आयामी होगा;
सखा सनातन का निश्चित
व्यक्तित्व दूरगामी होगा।
कौणप कोल किरात भालु कपि
मित्र भाव में आयेंगे;
सखा मान सबको रघुनन्दन,
आप मुदित अपनायेंगे।

किन्तु मित्र लम्बी कतार में,
मेरा स्थान कहाँ होगा ?
कपियों की नि:स्वार्थ प्रीति में
मेरा मान कहाँ होगा ?
पर मुझको विश्वास यही है,
नाता तुम्हीं निभाते हो;
जीव मात्र के जीवन जन की,
भूल भूल भी जाते हो।

अरुन्धती के यहाँ जन्म ले,
मैंने यही लाभ पाया;
तुम जैसे अविकार्य ब्रह्म ने,
मुझे मित्र कह अपनाया।
क्या अपनाने योग्य नाथ मैं,
किन्तु आपका यही स्वभाव;
शरणागति की दोषापेक्षा,
और निरखना मन का भाव।

नहीं मुझे पुरुषार्थ चतुष्टय,
कभी अभीप्सित है राघव;
पर तुमसे है एक अपेक्षा,
पूरी कर दो करुणार्णव।
जो-जो योनि मिले मुझको,
प्राक्तन शरीर कृत फलानुसार;
वहाँ वहाँ वश एक भाव हो,
अविच्छिन्न कौसिला कुमार।

हम सेवक हों आप हमारे,
बने नाथ हे जगदाधार ;
मित्र भाव का रहे आवरण,
यही हमारा हो उपहार।
इसे मान लो भीख उताहो,
गुरु सुत का ईप्सित वरदान
अथवा विप्र दक्षिणा राघव,
दो करुणा कर कृपा निधान।

जब जब हो रामावतार
तब तब मैं तेरा मीत बनूँ ;
अरुन्धती वर गर्भ जन्म से,
सात्विक भाव विनीत बनूँ।
बहुत दिनों तक साथ तुम्हारे,
राजभवन में मित्र रहा ;
बाल केलि कौतुक अनुपम,
सुख परमानन्द अखण्ड लहा।

चलो हमारे साथ आज तुम,
पर्ण कुटी में मंगल धाम ;
कुछ दिन तक मेरी माता भी,
तेरा सुख लूटे हे राम।
हम ब्राह्मण सामान्य व्यवस्था,
तृण पर्णों का घर मेरा ;
राजकुँवर तुम चक्रवर्ति के
कैसे हो स्वागत तेरा।

पर तुम बाह्य वस्तु की राघव,
नहीं अपेक्षा हो करते ;
प्रेम कनौड़े भक्त वशंवद,
शुद्ध भाव मन में धरते।
सुन सुयज्ञ के बचन राम के
नीरज नयन नीर छलके ;
श्याम शरीर कंटकित अगणित्त,
सात्विक भाव मधुर झलके।

अरुण पद्म दल अधर फड़क कर,
कुछ कहने को थे प्रस्तुत;
किन्तु भाव रस सागर में,
अब मग्न हुए कौसल्या सुत।
गुरु सुत को आजान बाहु से,
प्रभु ने उर में लिपटाया;
दृग जल से नहला कर उनको,
पीताम्बर में सिमटाया।

अनिर्वाच्य आनन्द सनातन,
मित्रों का यह मधुर मिलन;
बना सख्य रस के कवियों हित,
मधुर भाव का उन्मीलन।
बँधी सिसकियाँ अब राघव की,
दिया मौन ही प्रश्नोत्तर;
फिर सानुज सुयज्ञ को संग ले,
आये मुनि वशिष्ठ के घर।

अरुन्धती ने अब गवाक्ष से,
देखी बाल मंडली दूर;
हास विलास प्रमोद प्रेम में,
चली आ रही जो भरपूर।
गोली, भौंरा, चकडोरी की,
खेल खेलते बाल सखा;
अरुन्धती ने नयन चषक से,
यह स्वरूप पीयूष चखा।

बाल मंडली मध्य विलसते,
बाल रूप में बाल मुकुन्द;
उडुगन मध्य पूर्ण विधु जैसे,
सहज लुटाते परमानन्द।
ऊर्ध्व पुण्ड्र आयत ललाट पर,
लसता वाम अंस उपवीत;
अतिस कुसुम पर पीत कमल ने,
रेखा मनो बनाई पीत।

दक्षिण कर रूह गत प्रत्यंचा,
वाम हस्तगत दिव्य धनुष;
इन्द्र धनुष से मनो समर्चित,
नील जलद अति सान्द्र बपुष।
सुभग विषम शर शरसा,
शरथा कटि तट पर था पीताम्बर;
कसा निषंग ठवन केशरी सी,
नख शिख सुन्दर रूप मधुर

कौन आ रहा इस आश्रम में,
यह अपूर्व सुन्दर बालक;
किंबा रवि सुत अथवा हरि सुत,
अथवा जग का प्रतिपालक
इस निसर्ग आनन्द सिन्धु में
क्या पवित्र उमड़ा सौन्दर्य
पाटल दल पर मनो विखरते,
कोटि कोटि लक्ष्मी सोदर्य।

परमानन्द पयोद स्वयं क्या,
मेरी कुटिया में आया;
अथवा परब्रह्म नर तन धर,
मेरे मन को अतिभाया।
सुनिये ! सुनिये ! कह वशिष्ठ को,
अरुन्धती ने निकट बुला;
करने लगी प्रशंसा प्रभु की,
बार-बार वह रूप दिखा।

कौसिल्या की कोख धन्य है,
दशरथ का है तपबल धन्य;
जिनके घर प्रकटे परमेश्वर,
गुण मन्दिर शुचि शील वदान्य।
चारों भ्राताओं ने जाकर,
मुनि वशिष्ठ को किया प्रणाम;
अरुन्धती पद वन्दन करके,
मुदित हुए नर लोक ललाम।

पा आज्ञा भूतल पर बैठे,
जोड़ कंज कर राजकुमार;
किन्तु राम मुख छवि अरुन्धती,
एक टक दृग से रही निहार।
परम तृषित सारंग नयन की,
आज युगों की प्यास मिटी;
आज हमारे सुकृत फलों की,
रुचिर राशि भी है सिमटी।

श्री राघव मुखचन्द्र सुधा का,
दृग चकोर को पान करा;
नहीं अघाती अरुन्धती थीं
उर में प्रेम प्रमोद भरा।
बोले गुरु वशिष्ठ फिर हँसकर,
नजर लगाओगी इनपे;
एकटक निर्निमेष पलकों से,
डाल ठगोरी क्या इनपे।

अरुन्धती ने कहा विहँस के,
दूँगी राई लोन उतार;
मुदित कोटि मन्मथ समान बपु,
भर लोचन लूँ नेक निहार।
फिर सुयज्ञ चारों मित्रों को,
पर्ण सदन में ले आये;
कन्द मूल फल सरयू जल से,
स्वागत कर कुछ सकुचाये।

बोले राम सकोच मित्र क्यों,
अपनों से ऐसा उपचार;
नहीं मुझे वश कर सकता है,
जगती का कोई उपहार।
शुद्ध प्रेम का मैं भूखा हूँ,
मुझे चाहिए भाव विमल;
मुझ विमुक्त को सदा बाँधता,
भक्त हृदय का प्रेम प्रबल।

अब मैं शास्त्राध्ययन करूँगा,
लेकर ब्रह्मचर्य दीक्षा;
भूमि शयन मुनि के पट भूषण,
गुरु सुश्रूषा श्रुति शिक्षा।
यों कह राम सुयज्ञ मित्र से,
किये नींद वश नीरज नयन;
प्रहर चतुर्थ यामिनी के ही
उठे छोड़कर कुश का शयन।

सरयू जल मज्जन सन्ध्या कर,
पहन मेखला औ मृग चर्म;
मुनि वशिष्ठ से शिष्य पढ़ रहे,
गोपनीय श्रुतियों के मर्म।
अष्ट विकृति औ तीन प्रकृतियाँ,
सस्वर वेद संहिता पाठ;
क्रिया अल्प दिन में ही अवगत,
शिष्य भाव से ब्रह्म विराट।

धनुर्वेद, संगीत, शिल्प,
उपवेदों की भी सब शिक्षा;
स्मृति, पुराण, इतिहास, शास्त्र की,
और मन्त्र तान्त्रिक दीक्षा।
अनायास सब विद्याओं में,
हुए राम अब पारंगत;
निरख शिष्य अद्भुत मेधा को,
हुए मुदित विधि सुत दृढ़ ब्रत।

कभी-कभी नर लीला में
जब प्रभु करते श्रम का अभिनय;
अरुन्धती तब शास्त्र विरत,
मुनि को करती करके अनुनय।
आर्य पुत्र! कुछ देर शास्त्र से,
राज सुतों को दे विश्राम;
यह सुयज्ञ भी विनय कर रहा,
भोजन अब कर लो श्री राम।

यों कह अंक बिठाकर प्रभु को,
कन्द मूल फल देती हैं;
चूम चूम आनन सरोज को
मुदित बलैया लेती हैं।
कौसल्या का स्मरण न आये,
यही सदा करती हैं यत्न;
पुत्रोचित लालन पालन का,
करती रहती सती प्रयत्न।

वैदिक शिक्षा अल्प दिनों में,
सानुज प्रभु ने की सम्पन्न;
गुरु दक्षिणा हेतु अब प्रस्तुत,
हुए राम अति प्रत्युत्पन्न।
नयन नीर भर गुरु वशिष्ठ ने,
कहा राम तुम परमेश्वर;
तुम्हें पढ़ाये कौन ? दिया है,
गौरव तुमने ही पढ़कर।

दोगे राम दक्षिणा मुझको ?
आज माँगता हूँ यह वर;
जन्म-जन्म मैं प्रभु सरोज पद,
भक्ति मिले मुझको निर्भर।
रावण बधकर विप्र धेनु सुर
संत बृन्द को सुखी करो;
गुरु वशिष्ठ के मन मन्दिर में,
शिष्य रूप से नित बिहरो।

—पंच चामर—

अरुन्धती वशिष्ठ को प्रणाम राम ने किया :
तथा पदाब्ज भक्ति दिव्य दक्षिणा उन्हें दिया।
सुयज्ञ चारु मित्रता निसर्गतः निभी सदा,
यही बनी अरुन्धती : सुकाव्य, दिव्य सम्पदा।

*** श्री राघव : शन्तनोतु ***

●

चतुर्दश सर्ग

उत्कण्ठा

उत्कण्ठित मातु पिता परिजन पुरवासी,
सबकी आँखें थी प्रभु दर्शन हित प्यासी।
पल एक कोटि शत कल्प सरिस था जाता,
प्रभु बिना किसी को कुछ भी नहीं सुहाता। १॥

सब गणपति, गौरि, गिरीश, दिनेश मनावें,
अति शीघ्र राम गुरु आश्रम से घर आवें।
सम्पन्न शीघ्र हो प्रभु का यह प्रथमाश्रम,
बनकर गृहस्थ हरि हरें हमारे सब श्रम। २॥

कौसिल्या, कैकेयी और सुमित्रा मैया,
दे दान द्विजों को और दुहावें गैया।
श्री राम, लखन, रिपुदमन, भरत चारों भैया,
आवे घर सकुशल लौट सुजन सुख दैया। ३॥

दशरथ मन में भी कभी-कभी होता दु:ख,
दो नयन तलफते लखने को सुत विधु मुख।
पर राजधर्म वश प्रकट न कुछ कह पाते,
चुपचाप प्रेम के आँसू भी घुट जाते। ४॥

आषाढ़ पूर्णिमा आई अति सुखदाई,
प्रभु की दीक्षान्त सुबेला मधुर सुहाई।
सब विद्यावृत सुस्नात हुए प्रभु स्नातक,
पारंगत धनुर्वेद में रिपुकुल घातक। ५॥

बोले वशिष्ठ गद्गद स्वर राघव जाओ,
विद्या निधि विद्या व्रत स्नात सुख पाओ।
रावण वध कर भू का गुरु भार मिटाओ,
बनकर आदर्श गृही दक्षिणा चुकाओ। ६॥

प्रभु ने वशिष्ठ का किया कमल पद वन्दन,
कुछ भावुक से हो गये भानुकुल नन्दन।
आये थे लेने सचिव पुत्र अभिनन्दन,
अब गये अरुन्धति पास भक्तमन चन्दन।

आया हूँ लेने विदा आज गुरु माता,
"वात्सल्य आपका पर न भूल मैं पाता।"
यों कह प्रभु गद्‌गद हुए नीर दृग छाये,
गुरु पत्नी के पद कमलों में लिपटाये।

देवी ने प्रभु को उठा चूम समझाया,
वात्सल्य सुधा का हरि को पान कराया।
हे मेरे दृग की ज्योति राजगृह जाओ,
अपने सुयज्ञ को हे राघव अपनाओ।

तुझे नित्य निरखने राजभवन आऊँगी,
अवलोक श्याम तन लोचन फल पाऊँगी।
कुटिया में कभी-कभी तुम भी आ जाना,
गुरु माता के फल मूल मधुर खा जाना।

देवि अरुन्धती रोक कंज लोचन जल,
अब भेज रही नृप भवन सकल साधन फल।
आश्रम बटुओं ने स्वस्ति पाठ कर मंगल,
प्रस्थानिक विधि सम्पन्न किया मन विह्वल।

प्रभु साथ सुयज्ञ मुदित नृप मंदिर आये,
अब बाजे घर-घर कोसल नगर बधाये।
परजन्य वृष्टि से प्रमुदित यथा कृषीवल,
त्यों निरख राम को मुदित भूप आखंडल।

कौशल्या कैकय सुता सुमित्रा रानी,
चारों पुत्रों को निरख अधिक हरषानी।
विद्याव्रत वेद विनीत शील गुन सागर,
करते नृप लीला खेल-खेल में आगर।

उठ प्रात मातु पितु गुरु पद पंकज वंदन
करते अवश्य प्रभु भूसुर गण अभिनन्दन।
मृगया विहार में निपुण मृगों का वध कर,
दिखलाते नृप को दिन प्रति सानुज रघुवर।

यद्यपि सब मित्र समान राम को प्यारे,
पर थे सुयज्ञ उनके नयनों के तारे।
रख पूज्य भाव उनका करते प्रभु आदर,
रखते सुयज्ञ भी ब्रह्म भाव रघुवर पर।

अब जुड़ा नया अध्याय कथा के क्रम में,
मख रत थे गाधिपुत्र निज सिद्धाश्रम में।
पर नहीं हो सके सिद्ध किसी क्रतु में भी,
क्या अग्नि बिना द्रव हो सकता जतु में भी ?

मारीच सुवाहु सकेतु सुता सुत निशिचर,
थे करते मख विध्वंस उपद्रव कर कर।
चिन्तित ऋषि चिन्ता जड़ी भूत अति कृशतन,
जलने सा लगा विफलता से उनका मन।

रजनीचर होंगे नहीं हतप्रभ जब तक,
होगा न सफल मेरा महार्घ मख तब तक।
जिस क्रोधानल ने किया भस्म मुनि शत सुत,
इनके सम्मुख वह भी प्रशान्त अति अद्‌भुत।

सूझा उपाय अब अवधपुरी जाऊँगा,
मैं मांग भूप से राम लखन लाऊँगा।
अवतार लिया है पूर्ण ब्रह्म ने नर का,
इस मिष निरखूँगा बदन चन्द्र रघुवर का।

उठ प्रात शकुन के साथ अवधपुर आये,
अति निर्मल सरयू जल में मुदित नहाये।
दे पलक पावड़े राजभवन नृप लाये,
षोडश विधि पूजन किया सुअशन जिमाये

तब किये प्रणाम सहानुज आ रघुनन्दन,
अवलोक रूप हुए चकित गाधिकुल चन्दन।
क्या मनसिज धर शिशु रूप राज घर आया,
या ब्रह्म हुआ साकार दिव्य धर काया। २३॥

आगमन हेतु कौशिक से नृप ने पूछा,
सुन मुनि का मन भर गया रहा जो छूँछा।
मख रक्षा हित मुनि राम लखन को माँगे,
सुन नरपति मुर्छित पड़े प्रेम रस पागे। २४॥

लख गुरु वशिष्ठ रुख दिया राम लक्ष्मण को,
निज प्राण जगत रक्षक जन विश्रम्भण को।
अब चला समीरण शीतल मुदित चराचर,
नभ बजी दुन्दुभी विविध प्रसन्न हुए सुर।

पा पितु निदेश रघुनन्दन धृत धनु सायक,
जननी का कर पद बंदन जन सुख दायक।
कटि तट में अक्षय तूण रुचिरतर परिकर,
मनो मूर्त वीर रस चला संग कुसुमाकर। २६॥

गुरुजन को कर अभिवादन संग सुभ्राता,
कौशिक संग कानन चले देव मुनित्राता।
जलजात नयन पर नव कैशोर छलकता,
आयत ललाट पर ऊर्ध्व सुपुण्ड्र झलकता। २७॥

आनन पर अरुण अलौकिक मंजुल आभा,
शत कोट शरद पार्वण निशेष वर शोभा।
दृढ़ वृषभ अंस उपवीत कनक मय सुन्दर,
करि कलभशुण्ड भुज दण्ड केशरी कंधर। २८॥

द्विज चरण चिन्ह सुविशाल वक्ष पर सोहे,
आलम्ब कन्ज किन्जल्क दुकूल विमोहे।
कररुह करतल शर चाप मनोहर शोभा,
मानो जलद इन्द्र धनु संयुत लख मन लोभा। २९

कटि तट किंकिणि पीताम्बर शिशु दिनकर कर,
शुचि ठवनि बाल केहरि सम सुभग जानुवर।
मुनि मनोभृंग आवास अरुण नीरज पद,
अंगुष्ठ जाह्नवी जनक रेख जन सुखप्रद।

पद पद्म पादुका पीठ अतीव मनोहर,
त्रैलोक्य ललित लावण्य सकल सुषमाकर।
मानो त्रिलोक सौन्दर्य सिमिट कर आया,
इसे देख परमहंसों का मन ललचाया।

बने ऋषि कौशिक के राम लखन अनुगामी,
गुरु की सेवा रत आज सकल जग स्वामी।
कोशल पुरवासी सुमन वृन्द को लेकर
सिद्धाश्रम को जब राघव हुए अग्रसर।

तब आ सुयज्ञ ने रामचन्द्र को रोका,
अब कब आओगे यह कह करके टोका।
मुनि सुत तुषार दीधित सा सहज सुशीतल,
प्रभु चरणों पर था गिरा रहा दृग का जल।

पद टेक साग्रही बोल पड़ा अकुलाके,
राघव मत जाओ मत जाओ बिलखा के।
सिसकियाँ बँध गयी मुनि सुत की अनुनय में,
बह गया ज्ञान सब विषम वियोग प्रणय में।

—: गीत :—

राघव मत जाओ मत जाओ।
लख अधीरता विनय हमारी, रुक जाओ हे प्रभो असुरारी।
पड़ा चरण में प्रेम पुजारी कुछ तो प्रभो विलमाओ ॥ टेक ।
अरुन्धती माँ अति अधीर है, झर-झर झरता नयन नीर है।
उच्छ्वासित यह शिशु समूह है, उसके प्राण बचाओ ॥ 1 ॥
अब न सरों में कमल खिलेंगे, अब न विटप के पर्ण डुलेंगे।
अबके गये फिर कहाँ मिलेंगे, यह तो तात बताओ ॥ 2 ॥

अब न बनेंगे खेल हमारे, रोते विकल खिलौने सारे
सिसक रहे सरयू के किनारे, धीरज उन्हें बँधाओ ॥ 3 ॥
अवनि अवध पर्यन्त रहेंगे, प्राण बेचारे बिरह सहेंगे।
तव वियोग पावक में दहेंगे, ज्वाला विषम बुझाओ ॥ 4 ॥
अब सुयज्ञ को भूल न जाना, जाकर राघव जल्दी आना।
इस नाते को सतत निभाना, अब न हमें तरसाओ ॥ 5 ॥

× × ×

सुनकर सुयज्ञ के बचन राम भी रोये,
प्रभु धीर धुरन्धर आज धीर निज खोये।
"आऊँगा" कहकर चले भक्त भय भञ्जन,
मुनिवर कौशिक के संग दनुज कुल गञ्जन।

एक तीर से हती ताड़का नारी,
मुनि आश्रम में गये भक्त भय हारी।
मार निशाचर निकर यज्ञ करवाया,
कोसल सुता कुमार सुयश जग छाया।

जनक नगर जा किया शम्भु धनु भञ्जन,
स्वीकारी जयमाल मैथिली रंजन।
भार्गव मद कर चूर्ण अवधपुर आये,
सीता राम विवाह लोकत्रय गाये।

नव परणीता सीता संयुक्त राघव,
राजं रहे ज्यों बीचि लसित करुणार्णव।
अरुन्धती ने प्रथम निहारी जोड़ी,
लख स्वरूप भारती भारती छोड़ी।

जनक सुता ने किया देवि पद वंदन,
करके पुनः स्वश्रुजन का अभिनन्दन।
अरुन्धती के निकट पुनः सिय जाकर,
बोली प्रश्रय विनत सुभाव जनाकर।

देवि ! आप ही आर्य पुत्र गुरु माता,
अरुन्धती गुणवती भुवन विख्याता।
मातु सुनयना ने था मुझे सुनाया,
जैसा सुना उपस्थित वैसा पाया।

उत्कण्ठा थी मुझे देवि दर्शन की,
अभिलाषा थी चरण कमल स्पर्शन की।
आर्य पुत्र ने कहा कान में आकर,
करो समादर गुरु माता का जाकर।

अतः धृष्टता करने हित मैं आयी,
क्षमा करें मुझको पुत्री की नाईं।
आप वस्तुतः एक मात्र वह नारी,
जिसको झुका न पाया नर व्यभिचारी।

इसीलिए सप्तर्षि मध्य धृत आसन,
पूजी जाती आप यही श्रुति शासन।
अग्निहोत्र के समय उपस्थित रहकर,
सेवा करती आप सदा दुख सहकर।

केवल देव वशिष्ठ मर्म यह जाने,
गुप्त आपको नहीं लोग पहचाने।
मिथिला में अतएव हुआ न समादर,
नहीं लोग पहचाने गुप्त वपुषवर।

मंडप में मैंने अरुन्धती देखी,
विधि पूरी की हुई न प्रीति विशेषी।
मेरा मन नित रहा सतृष्ण विचारा,
कैसी होगी अहो अरुन्धती तारा।

आज अमित आश्चर्य अवध का भारी,
तारा भी बन गयी जहाँ गुरु नारी।
गगन अवध में नहीं आज कुछ अन्तर,
यहाँ देव अधिकारी नखत वपुष धर।

धन्य-धन्य मैं धन्य-धन्य मम लोचन,
अरुन्धती के दर्शन पातक मोचन।
सुन सीता के वचन अधिक सकुचानी,
ऊर्जा बोली मन में बहुत जुड़ानी।

सीते ! तुम अपना ऐश्वर्य छिपाती,
केवल मुझको गौरव देती जाती।
आदि शक्ति तुम रामचन्द्र परमेश्वर,
हुए यहाँ अवतीर्ण बने दुलहिन वर।

एक ब्रह्म ही युगल रूप में आकर,
देता है आनन्द सुचरित रचाकर।
श्रुति वचन अगोचर चारु चरित तुम्हारा,
तुम सत्य सनातन राम भक्ति वर धारा।

हे जनक नन्दिनी ! अब न अधिक तरसाओ,
मन में करुणा रस सुरसरि धार बहाओ।
करुणा कर मुझको निज किंकरी बनाओ,
भव सागर से अब मुझको पार लगाओ।

सुन अरुन्धती वर वचन नमित सिर करके,
घूँघट से आनन ढाँक नयन जल भरके।
बोलीं सीता, "यह क्या कहतीं हैं देवी।"
मैं सदा आपकी चरण कमल रज सेवी।

मैं पुत्रवधू हूँ केवल देवि तुम्हारी,
तुम कौसल्याधिक पूज्या सास हमारी।
बस यही युगल का रहे सनातन नाता,
सीता शिष्या और अरुन्धती गुरु माता।

हे देवि ! भक्ति का यही रहस्य मनोहर,
सम्बन्ध बिना बढ़ता न कभी रस निर्भर।
अतएव जीव ईश्वर से निज रस पोषक,
कोई सम्बन्ध बनाता श्रुति रस तोषक।

यह भक्ति कुलवती लज्जा शीला नारी,
जिसकी है गुह्य साधना सुन्दर सारी।
घूँघट समान है भक्ति भाव अति प्यारा,
जिससे यह ढँककर बदन भुवन उजियारा।

उसके ही ओट से प्रभु मुख कमल निरख कर,
कर देती जन मन शीतल शुचि रस भर कर।
अतएव यही सम्बन्ध सदा रहने दें,
सेवा सौभाग्य जनकजा को लहने दें।

—: वंशस्थ :—

अरुन्धती हर्षवती हुई वहाँ।
विलोक सीता वर वाक्य चातुरी।
सुलग्न उत्कण्ठित आम्र वृक्ष में।
प्रमोद सत्पुष्प पराग राग था।

*** श्री राघव : शन्तनोतु ***

●

पंचदश सर्ग

—: प्रमोद :—

वंशस्थ उपजाति

प्रमोद पीयूष रस प्रवाह से
थी प्लाविता उत्तर कोसला पुरी
श्रीराम सीता नव दिव्य दम्पती
थे राजते मंगल रूप से जहाँ।

इन्द्रवंशा-

थी माण्डवी श्री भरतान्विता सती
श्री उर्मिला लक्ष्मण भव्य वल्लभा
शत्रुघ्न कान्ता श्रुतिकीर्ति शोभना
सीता पदाम्भोज रता सभी हुई।

सुयज्ञ पत्नी सिय की सखी बनी
पतिव्रता ब्राह्मणदार सम्मता
परस्पराचार विचार साम्य से
प्रवर्धिता प्रेम लता मनोहरा।

अनन्त ऐश्वर्य समस्त सिद्धियाँ
माणिक्य मुक्ता मय रत्न सम्पदा
यथा त्रिवेणी सब कोशलाब्धि में
प्रवेग से जा करके मिली मुदा।

श्री जानकी जीवन चारु चन्द्रमा
माध्वी सुधा शीतल रश्मि राशि के
रसज्ञ राजा दशपूर्व स्यन्दन
प्रेमैकवारीश बढ़ा तरंग मे।

—: द्रुत विलम्बित :—

अब महीपति की यह मंत्रणा
सचिव पौर वशिष्ठ सुसम्मता
दृढ़ हुई युवराज बने अभी
जनकजा पति कोसल राज्य के।

यह उदन्त समाश्रित वेग से
सकल कोसल के प्रति गेह में
अति अनुपम आनन्द सिन्धु में
उमड़ता सुतरङ्ग यथा मुदा।

यह उपस्थित आनन्द आपगा
निखिल कोसलवासि प्रमोदिनी
विवुध प्रेरित मन्थर मंथरा
समवरुद्ध हुई कुछ मंथरा।

सह सकी न रघुत्तम हर्ष को
कुटिल कैकयराज सुतार्चिनी
कपट बागुर में सहसा फँसा
अहह ! हन्त हती महिषी महा।

कुटिल के इस दुःस्सह संग से
भरत की जननी अति दूषिता
भवन में गमनी अब कोप के
दशरथात्म बिनाशन हेतु थी।

तिलक वृत निवेदन कौतुकी
नृप गये जब कैकेयी धाम में
निरख कोपगृहावनि में उसे
नृप हुए विमना अति खिन्न थे।

मन्दाक्रान्ता

क्रोधाक्रान्ता मलिन वसना भग्न सिन्दूर चर्चा।
श्वासोच्छ्वासोच्चलित दशनच्छादना क्षिप्तचित्ता।
क्रूरा शिष्या, कुटिल हृदया दीक्षिता मंथरा से,
कैकेयी भी दशरथ गजाभ्यर्दिनी सिंहिनी सी।

वंशस्थ

निहार के व्याकुल थे महीप यों
निहार लेखार्दित चन्द्रबिम्ब ज्यों
पुनः पुनः कारण पूछने लगे
स्वरोष के कैकयराज पुत्रि से।

न जान पाये नृप साधु चित्त के
कुभामिनी कल्पित घोर यन्त्रणा
वरद्वयाभ्यर्थन वज्रपात से
गिरा दिया हा नृप ताल वृक्ष को।

श्री राम को चौदह वर्ष का दिया
महावनों में वनवास भामिनी
स्वराज्य में भी भरताभिषेक की
अभ्यर्थना की नृपराज राज से।

बंधे हुए थे नृप सत्य पाश से
स्वपुत्र के भी सपथ प्रमाण से
इसीलिए उत्तर दे सके नहीं
सदाग्रही भामिनी का महाव्रती।

सुमंत्र सम्प्राप्ति राम को सुना
स्वराजधानी भरताभिषेक को
द्विसप्तवर्षी वनवास राम का
प्रमोद मग्ना अति कैकेयी हुयी।

लिया अनुज्ञा भरत प्रसूति से
किया पिता को शिरसा प्रणाम भी
विसृष्ट साम्राज्य महाव्रती चले
रही जहाँ कोसल राज्य कन्यका।

मालिनी

सकल पुरजनों में ये समाचार फैला
जन हृदय विदारी तैल धारा यथा हो
नव नलिन दृगों से अश्रुधारा बहा के
सब पुर नर नारी फूट के रो रहे थे।

इन्द्रवज्रा

जेष्ठानियाँ ब्राह्मण पत्नियाँ भी
आ कैकेयी को समझा रही थी
हा हा किया क्या नृप भामिनी ने
पाथोज पे बज्र निपात घोरा।

द्रुतबिलम्बित

नयन नीर संभाल अरुन्धती
पवन कम्पित कन्दलिका यथा
परम बार्धक श्वेत शिरोरुहा
करुण गद्‌गद हो कहने लगी।

भरत की जननी गुण मंडिता
परम रूपवती रण पंडिता
दशरथोत्सव कारिणि भामिनी
तुम रही अब लौं शुचि कैकेयी।

कलुष मानस मोहित मंथरा
अपहरी तब बुद्धि विवेक भी
इसलिए यह आज अनर्थ हा
समुपक्रान्त हुआ अवधेश का।

अवध राज शनैश्चर की दशा
यह बनी अति पापिनि मंथरा
अवधि वर्ष चतुर्दश में अहो
विषम है विधि का परिपाक भी।

भरत प्रेष्ठ नहीं रघुचन्द्र ज्यों
यह सदा कहती तुम भामिनी
अब विपर्यय क्यों यह हो गया
कुशल कोसल पै पविपात सा।

उपजाति

सीता तजेंगी पति संग कैसे ?
सौमित्र कैसे घर में रहेंगे ?
राजा बनेंगे भरतार्य कैसे ?
बिना प्रभु के नृप क्या जियेंगे ?

शिखरिणी

बना लो राजा भी अवध नगरी का भरत को,
जिला लो भरता को रघुतिलक को रोक वन से;
संभालो कैकेयी दुःख दहन से राजकुल को,
मिटा लो हे रानी रघुकुल कलंकालि पल में।

बनाया राजा भी अवधपुर का जो भरत को,
निकाला क्यों तूने रघुतिलक को राजगृह से;
बताओ कैकेयी कुमति यह कैसी हृदय में,
बसी तेरे हा हा कठिन हृदयाराज महिषी।

द्रुत विलंवित

भरत को युवराज बना सती
सफल तू कर ले निज यंत्रणा
पर न राघव को वनवास दे
अवध जीवन जीवन राम हैं।

यदि निवास नहीं रघुनाथ का
भवन में तुमको समभीष्ट हैं
प्रभु रहें गुरु गेह यथा पुरा
वर द्वितीय यही नृप से वरो।

हम अकिंचन ब्राह्मण वृति से
रख रघूत्तम को स्वकुटीर में
तनय ज्यों करके प्रति लालना
सुख चतुर्दश वर्ष लहें शुभे।

लोभी नहीं राघव राज्य के हैं
रुखे सदा वे विषया रसों से
उन्हें भला क्यों वनवास देती
कलंक कालुष्य वृथैव लेती।

उठो-उठो आग्रह देवि छोड़ो
विषाद धारा कर यत्न मोड़ो
जाते हुए राघव को निबारो
जीते हुए भूपति को निहारो।

पर न एक सुनी कुल पांसनी
गुरु वधू कथिता वचनावली
परम क्रोध वशा सिर को झुका
रह गयी चिरकाल निरुत्तरा।

विफल देख प्रयत्न अरुन्धती
नयन नीरज नीर न रुन्धती।
अति रुषा शिर पीट चली गयी
हृदय में उमड़ी करुणा नयी।

शिखरिणी

विदा ले कौसल्या चरण रज को शीश धर के
विनीता श्री सीता प्रिय सहचरी को संग लिया
पिता की आज्ञा से अवध सुख साम्राज्य तज के
अरण्यानी यात्रा करण हित थे राघव सुखी।

वंशस्थ

सुयज्ञ के आलय भेज बन्धु को
उन्हें बुलाया प्रिय मित्र भाव से
सुरत्न शैय्या धन दान के लिए
वियोग संताप निदान के लिए।

आके विलोका प्रभु को सुयज्ञ ने
देते हुए दान महार्घ्य वस्तु का
हा राम हा राघव हा रघुत्तम
पुकार यूँ व्याकुल भूमि पे गिरे।

उपेन्द्र वज्रा

सुयज्ञ को राघव ने उठाया
गले लगाया करुणार्द्र होके
दिया उन्हें भूषण रत्न माला
महार्घ्य शैय्या जनकात्मजाने।

संकेत पाके महिनन्दिनी का
सुयज्ञ से सस्मित राम बोले
हे मित्र ! कर्त्तव्य घड़ी यही है।
आस्वस्त होओ अब शोक खोओ।

सीता सखी हैं गृहिणी तुम्हारी
पतिव्रता भक्तिरता शुशीला
अतः उन्हें मैथिल राजकन्या
महार्घ्य भूषा पट दे रही हैं।

पर्यङ्क केयूर सुहार माला
माणिक्य मुक्ता वर रत्न शोभा
सीता सखी को सब दे रही हैं
विदेह से जो इनको मिले थे।

द्रुतविलंबित

सुन सुयज्ञ समाकुल हो गये
विरह भीम दवानल दग्ध हो
गिर पड़े अविलम्व अचेत वे
लुलित पादप ज्यों खरपात से।

फिर उठा द्विज को रघुनाथ ने
विविध भाँति दिया परिसान्त्वना
सजल नीरज नेत्र विनीतवत
प्रिय सखा कह यों कहने लगे।

गीत

जाओ जाओ सखे स्वस्थ्य हो धाम में।
स्वप्न में राम को भूल जाना नहीं।
वर्ष चौदह बिता आ रहा हूँ अवध।
वाक्य अभिराम यह भूल जाना नहीं।
मेरी माता अरुन्धति विरह में विकल।
उनको धीरज बँधाना सदा तात तुम।
पूज्य आचार्य को कहना मेरा नमन।
मित्र अभिराम यह भूल जाना नहीं।

मेरे माता पिता बन्धु भरतादि को।
सीख देते ही रहना यथा काल तुम।
मैं न क्षण भर सखे दूर तुमसे अहों।
चित्त विश्राम यह भूल जाना नहीं।

× × ×

समझाया सुयज्ञ को प्रभु ने इस प्रकार धीरज देकर।
जननि जनक पद वंदन करके चले विपिन आनन्द सुघर।
नहीं मलिन प्रभु विधु आनन था नहीं राज्य का किंचित लोभ।
राम सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं उन्हें सताये कैसे क्षोभ।

माँ अरुन्धती और वशिष्ठ पद वन्दन करके चले विपिन,
कटि निषंग कर कंज धनुष शर संग जानकी औ लछिमन
चित्रकूट में किया वास सुन भरत वंदन से पिता मरण।
व्याकुल हुए धीर रघुकुल मणि प्रणत पाल जन शोक हरण॥

निज पादुका न्यास देकर फिर भेज भरत को कोसलपुर।
सीय हरण मिष रावण वध कर सुखी किये महि, सुर, महिसुर।
पुष्पकयानारुढ़ संग सिय लक्ष्मण हनुमदादि कपि गण।
वर्ष चतुर्दश विता अवध पुर आये फिर रघुकुल भूषण।

द्रुतविलंवित

प्रभु वियोग समाकुल चेतना
इधर थी दुःख मग्न अरुन्धती
विलपती कुररीव दिवा निशम्
नयन नीरज नीर बहा रही।

शार्दूल विक्रिडित

खिन्ना ध्यान परायणा हिम हता म्लाना यथा पद्मिनी।
रोती राघव वास सोच वन में शोकाश्रु धारा बहा।
सोती जाग कभी-कभी स्मृति वशात् थी दौड़ती धेनु ज्यों।
हा हा राम पुकारती विलपती वात्सल्य मंदाकिनी।

वंशस्थ

कभी कभी राघव को दुलारती
अपूर्ववत् कानन के कुटीर में
अरण्यवासी प्रभु को विचार के
पुनः विचेष्टा गत चेतना सती।

कभी कभी आ कहती वशिष्ठ से
विचारिये ज्योतिष की फला विधा
श्री राम सीतानुज संग हैं सुखी
होंगे कभी पर्णकुटीर पाहुने।

द्रुतविलंवित

विरह की यह तीव्र व्यथा नहीं
सुकवि वर्णन के हित शक्य है
परम सौम्य वशिष्ठ अरुन्धती
विकल हो प्रभु पन्थ निहारते।

पुष्पक से अवतीर्ण जगत्पती गुरु वशिष्ठ को कर वन्दन,
प्रथम पुनः सबका स्वीकारा सावधान हो अभिनन्दन।
हुआ राज अभिषेक बिराजे सिंहसान पर प्रभु नृप बन,
प्रथम तिलक वशिष्ठ मुनि ने कर दिया शुभाशीष अनुशासन।

किन्तु रहा अवशेष अभी भी वन यात्रा व्रत का पारण,
प्रथम बनेंगी अरुन्धती ही इस विधान में शुभ कारण।
सीता लक्ष्मण सहित अवधपति प्रथम अरुन्धती गेह गये,
प्रथम पारणा हेतु हृदय में उमड़ रहे अभिलाष नये।

सोच रहे मन ही मन राघव आज अतुल सुख पाऊँगा,
गुरु माता की गोद बैठकर पारण नियम निभाऊँगा।
निखिल लोक लक्ष्मी जिसको स्वादों से नहीं रिझा पायी,
उसकी रसना गुरुतिय विरचित भोजन के हित ललचायी।

अरुन्धती वात्सल्य वस्तुतः भोजन में होता साकार,
इसीलिए ललचाये उस पे राघव कोशलेन्द्र सरकार।
बैठी हुई कुटी में अपने भामिनि को प्रभु ने देखा,
उमड़ रही जिनके आनन पर मधुर प्रेम रस की लेखा।

वार्धक वलित [illegible] कुछ-कुछ तन दुर्बल,
लख अरुन्धती [illegible] कृपाल भक्त वत्सल।
आतुर दौड़ [illegible] सरोरुह पर लख शीश,
अंचल में छिप [illegible] प्रेमाविष्ट कोशलाधीश।

वत्सल रस. का [illegible] चूम चन्द्र आनन उनका,
प्रभु मुख निरख [illegible] मिटा रही आतप मन का।

फिर प्रभु को [illegible],
गुरु [illegible] सर्वप्रथम;
सुन्दर सुधा स्वाद [illegible],
अनुभव [illegible] दुर्गम।

जीम रहे सीता [illegible],
भोजन [illegible] दोनों में;
अरुन्धती भर रही नेह जल,
नीरज लोचन कोनों में।
बार बार देती अरुन्धती,
ला लाकर [illegible] व्यंजन;
जीम रहे सीता लक्ष्मण संग,
स्वाद सराह भक्त रंजन।

नन्दन वन के सुमन बरस,
सुर आज कर रहे अभिनन्दन;
जय अरुन्धती जय श्री राघव,
जय कृपालु जन मन चन्दन।
जय अरुन्धती जय वशिष्ठ,
जय राघव की ध्वनि गूँज रही;
कवि कलिता कोकिला काकली,
पी-पी मधुरस कूँज रही।

आज वशिष्ठ भाग्य की सीमा,
अरुन्धती वत्सल परिणति;
आज काव्य में मूर्त हो रही,
रघुवर भक्ति प्रेम परिमिति।
आज सनाथ हो रहा मंगल,
महाकाव्य का मंजु महत्व,

जिसके प्रति अक्षर में संभृत,
राम ब्रह्म का शुभ अस्तित्व।

भोजन किया प्रेम से प्रभु ने,
फिर सुयज्ञ सम्मुख आये;
मित्र "खा रहे बहुत" वचन यों,
कह विनोद में बिलमाये।
आज चतुर्दश वर्षों का,
सब घाटा यहीं चुकालोगे ?
छोड़ोगे अवशेष किमपि,
या सब कुछ तुम ही खा लोगे।

बोले प्रभु सहास अब तक,
तुमने हे मित्र ! बहुत खाया;
आज भाग्यवश गुरु माता,
के ढिग मेरा अवसर आया।
"चुपचुप रह" सुयज्ञ ! कह करके,
प्रभु मुख चूमी अरुन्धती,
सीता लक्ष्मण सहित राम को,
दिया वास निज हृदय सती।

अमर हुई इतिहास गगन में,
चमकी अरुन्धती तारा,
मुनि वशिष्ठ संगिनी सती,
यह धन्य-धन्य ऋषिवर दारा।
रघुपति कृपा प्राप्त कर मैंने,
चरित यथामति गान किया;
अरुन्धती शुभ महाकाव्य का
प्रभु पद में विश्राम दिया।

"अरुन्धती" महाकाव्यं अरुन्धत्या कृपाकृतम्।
अरुन्धती मुदे चेदं अरुन्धत्यै समर्प्यते॥

*** श्री राघव : शन्तनोतु ***

●

सूक्ति वाक्य

६. वे सन्त नहीं जो चाटुकार पूँजीपति के,
अभिमानी दम्भी दुर्मदान्ध मिथ्यामति के।
लोलुप सन्तत आसक्त दास विषयारति के,
वे कभी नहीं है पात्र जगत्पति सद्गति के।।
(पृ. १०४, सर्ग ६)

७. उच्छृंखल पशु के लिये दंड ही शिक्षा है।
अति नीच नराधम हेतु यही शुभ दीक्षा है।
उद्धत भुजंग को कथमपि उचित उपेक्षा है,
उसके उपमर्दन की ही यहाँ अपेक्षा है।।
(पृ. १०७, सर्ग ७)

८. विश्वास साधक को कभी मन का न करना चाहिए,
चंचल तुरंग की रश्मि को कसकर पकड़ना चाहिए;
है हार मन की हार मन की जीत शाश्वत जीत है
वह भोगता है जन्म भर इसका बना जो मीत है।
(पृ. १११, सर्ग ८)

९. अधिकार की मदिरा बनाती मनुज को मदमत्त है,
सामान्य की क्या बात, होता मान्य भी उन्मत्त है।
(पृ. ११३, सर्ग ८)

१०. यह वासना मदिरा अहो नर के पतन का हेतु है
जो भग्न करती निमिष में संकल्प संयम सेतु है
(पृ. ११४, सर्ग ८)

११. मैं कहता आसक्ति मृत्यु है, अनासक्ति ही है जीवन;
(पृ. १८४, सर्ग १३)